

समस्य



अक्टूबर-दिसंबर, 2021 ♦ नई दिल्ली

मैं किसान हूँ
आसमान में धान बो रहा हूँ
कुछ लोग कह रहे हैं
कि पगले ! आसमान में धान नहीं जमा करता
मैं कहता हूँ पगले !
अगर ज़मीन पर भगवान जम सकता है
तो आसमान में धान भी जम सकता है
और अब तो दोनों में से कोई एक छोकर रहेगा
या तो ज़मीन से भगवान उखड़ेगा
या आसमान में धान जमेगा .

-रमाशंकर यादव 'विद्रोही'-



नाहि तो जन्म नसाई

दूसरे विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में जब होलोकास्ट की भयानक तस्वीरें पहली बार दुनिया के सामने आईं तो ये विश्वास करना कठिन था कि फासीवाद का चेहरा इतना निर्मम और धिनौना हो सकता है। हिटलर और उसके मुजरिम टोले ने अपने मुल्क की हर समस्या के लिए यहूदियों को जिम्मेदार ठहराने की रणनीति बनाई थी और 1933 में सत्ता हड़पने के बाद उन्हें हर प्रकार के अधिकारों से वंचित करना नाजी पार्टी की नीति बन गई, जिसके परिणाम स्वरूप यहूदियों का भयानक उत्पीड़न शुरू हुआ और युद्ध के आरंभ होने के बाद छह वर्षों में कन्सेंट्रेशन कैम्पों में अंतिम समाधान के नाम पर उनके साथ जो हुआ वह विश्व इतिहास का अत्यंत शर्मनाक अध्याय है।

मानवता के विरुद्ध इस भयानक अपराध के पीछे जो विचारधारा काम कर रही थी वह पिछले सौ वर्षों से हमारे देश में भी एक प्रबल शक्ति में मौजूद रही है और अल्प संख्यकों विशेषकर मुसलमानों के विरुद्ध सक्रिय रही है बल्कि उसने पिछले चंद वर्षों में बड़ा विकराल रूप धारण कर लिया है। इसकी एक झलक हमें हरिद्वार धर्म संसद में देखने को मिली जहां कई वक्ता खुलेआम मुसलमानों के नरसंहार पर लोगों को उकसाते हुए दिखाई दिए थे।

आज की दुनिया में और विशेषकर भारत में होलोकास्ट जैसा जनसंहार तो संभव नहीं है और ये बात इसका आह्वान करने वाले भी जानते हैं। अतः इसके जो राजनीतिक उद्देश्य हो सकते हैं वह किसी से ढके-छिपे नहीं हैं। अधिक चिंता की बात यह है कि आज की अत्यंत जर्जर अर्थव्यवस्था के चलते जब बेरोजगारी अपनी चरम सीमा पर है, कोरोना का कहर जारी है, रोजगार के अवसर सिकुड़ रहे हैं, सरकारी नौकरियों की संख्या चिंताजनक रफ्तार से घट रही है और लाखों कुनबे जो गरीबी की रेखा से ऊपर उठने में सफल हुए थे एक बार फिर अपनी पिछली हालत में लौट गए हैं, मायूसी की एक ऐसी फ़िज़ा बन रही है जिससे नकारात्मक सोच को पैर जमाने का मौका मिलता है, जो मासूम दिमागों को अपनी पकड़ में लेने में सफल हो जाती है और यही वह पहलू है जिससे हमें सचेत और सजग रहने की ज़रूरत है। इस संदर्भ में सिविल सोसाइटी अपना काम कर रही है और अवैज्ञानिक सोच इतिहास के गलत और त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण के झूठ और प्रॉपगैन्डा के खिलाफ़ आवाज़ उठा रही है मगर फिर भी यह महसूस होता है कि इस दिशा में जारी प्रयासों को एक जन आंदोलन का रूप देने की आवश्यकता है जिसके लिए शायद सबसे उपयुक्त समय यही है क्योंकि हम इस वर्ष आज़ादी की वर्षगांठ मना रहे हैं। अगर हम नफरत के वातावरणों के खिलाफ़ खिलाफ़ उन आदर्शों और उद्देश्यों के साथ जो हमारे स्वतंत्रता संग्राम के केंद्र बिंदु थे एक बार फिर संघर्षरत हों और अपनी नई पीढ़ी को उसके साथ जोड़ने में सफल होंगे, वह सपना जो हमारे सेनानियों ने देखा था और जो हमारे संविधान का मूल उद्देश्य रहा है साकार हो सकता है। ये मजिल कठिन ज़रूर है मगर किसानों के आंदोलन की बेमिसाल कामयाबी ने एक बार फिर यह सिद्ध कर दिया है कि हमारी जनता में अपने अधिकारों के लिए लड़ने की अद्भुत क्षमता है और उसे सत्य और अहिंसा की शक्ति पर भी अड़िग विश्वास है जिसका प्रदर्शन उसने इस आंदोलन के दौरान विरोधी शक्तियों के हथकंडों का सामना करते हुए कदम-कदम पर किया है और ये विश्वास किसी भी आंदोलन को सफलता की मंजिल तक ले जाने की कुंजी है।

2 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2021

कृषि कानूनों को वापस लेने की घोषणा हमारे लोकतंत्र में एक गांधी क्षण है

अशोक वाजपेयी



गांधीजी ने जिन दो बड़े आंदोलनों से स्वतंत्रता-संग्राम को नयी दिशा दी थी वे,
चम्पारण और नमक सत्याग्रह, मुख्यतः किसान आंदोलन थे।

विरोध से सबक

शायद भारत और संसार में चले सबसे लम्बे, लगभग एक वर्ष लम्बे चल रहे किसान आन्दोलन की अन्ततः जीत हुई है। एक अहंकारी सत्ता जिसने इस आन्दोलन को लांछित करने, बदनाम करने के मंत्री स्तर से लेकर गोदी मीडिया और ट्रोलींग तक लगातार प्रयत्न किये, अन्ततः झुकी और उसके तीन किसानी संबंध कानूनों को वापस लेने की घोषणा की। यह हमारे लोकतंत्र में एक गांधी-क्षण है—इस आन्दोलन ने व्यापक जनसमर्थन जुटा कर, पूरी तरह से अहिंसक रह कर, सक्रिय राजनीति से अपने को दूर रखकर, प्रलोभनों और लांछनों, समझौतों आदि की परवाह न कर एकाग्र रहकर जो हासिल किया है वह एक क्रूर-असंवेदनशील-अधिकार में अन्धी सत्ता को लोकतंत्र में, चुनाव से नहीं, अथक विरोध से हराने का पराक्रम है। सारी हेकड़ी, गाली-गलौज, विदेशी सहायता मिलने के निराधार दावे आदि धरे रह गये। जनशक्ति ने अपनी ऊर्जा और उसके सात सौ अधिक किसानों की शहादत के माध्यम से अड़ियल और जिद्दी सत्ता को विनय का पाठ सिखा दिया। कितना यह पाठ सीखा गया है यह हम आगे देखेंगे।

यह भी नोट करने की बात है कि किसान आन्दोलन ने अपने नेता सामने किये हैं और अपने को दलगत राजनीति से समझ-बूझ के साथ अलग रखा है। यह भी अलक्षित नहीं जाना चाहिये कि किसानों के इस आन्दोलन में धर्म-जाति-सम्प्रदाय आदि से ऊपर रहकर सभी को समान रूप से शामिल किया गया। स्त्रियों की शिरकत भी काफी रही। भले इसे सिर्फ सिखों का या कि पंजाब-हरियाणा-पश्चिमी उत्तर प्रदेश का आन्दोलन बताने की चेष्टा कर सीमित दिखाने की कोशिश की गयी, पर जाहिर था कि उसे भारत भर के किसानों का समर्थन प्राप्त था। बल्कि किसानों के अलावा अनेक लेखकों-कलाकारों-

बुद्धिजीवियों ने भी खुलकर किसानों का समर्थन किया। यह भी याद करने की ज़रूरत है कि गांधीजी ने जिन दो बड़े आन्दोलनों से स्वतंत्रता-संग्राम को नयी दिशा दी थी वे, चम्पारण और नमक सत्याग्रह, मुख्यतः किसान आन्दोलन थे। यह सबक सीखने का मन होता है कि भारत में अब किसान, स्त्रियां, अल्पसंख्यक और दलित मिलकर क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकते हैं। यह लोकतंत्र की आत्मा और अन्तःकरण के पुनर्जागरण का क्षण हो सकता है।

यह बदलाव की उम्मीद जगाने वाला क्षण भी है। जो किसान कर सकते हैं वह हमारे लाखों की संख्या में फैले शिक्षक अपनी स्वायत्तता की रक्षा के लिए और सारी शिक्षा को कौशल और उपकरणात्मक बनाने और उसके ज्ञानपक्ष को लगातार शिथिल करने के विरुद्ध वे एकजुट और मुखर-सक्रिय क्यों नहीं हो सकते? उन्हें यह याद रखना चाहिये कि वे इस लोकतंत्र के सबसे लाभान्वित समुदायों में से एक हैं और उसे उसके सत्व में बचाने की कोशिश करना उनका सहज गुरुधर्म और नैतिक कर्तव्य होना चाहिये। किसानों ने रास्ता दिखाया है। जोखिम भरा है पर क्या दूसरे तबकों के पीड़ित-वंचित लोग उस पर चलने का साहस दिखायेंगे?

समावेशी भारत

सत्तारूढ़ राजनैतिक और आर्थिक शक्तियां, धर्माचार्यों और गोदी मीडिया के सक्रिय और उत्साहित सहयोग से एक ऐसा भारत बनाने की अथक चेष्टा कर रही हैं जो समावेशी होने के बजाय अपवर्जी हो और जिसमें सभी को सभी अधिकार समान रूप से न मिले हों। ऐसे समय में भी ऐसी वृत्तियां सामने आती रहती हैं जो उस समावेशी भारत को प्रगट करती हैं जो, सारी कठिनाइयों के बावजूद, मौजूद और सशक्त है।

शाहीन बाग आन्दोलन मुसलमान स्त्रियों द्वारा शुरू किया

गया था जो नये नागरिकता कानून के विरुद्ध था। पर जल्दी ही उसमें सभी धर्मों और सम्प्रदायों के पुरुष और स्त्रियां स्वतःस्फूर्त ढंग से शामिल हो गये। देश में कई जगह शाहीन बाग बने। लगभग एक साल से चल रहे किसान आन्दोलन में भी किसानों के अलावा स्त्रियां, सभी धर्मों के अन्य ऐसे कई लोग शामिल होते रहे जो किसान नहीं थे। जाहिर है कि ये सभी लोग पहचान पाये कि ये आन्दोलन कुछ बुनियादी अधिकारों और लोकतंत्र के इसरार के लिए हैं।

अल्पसंख्यकों को भय और घृणा के घेरे में ढकेलने का सर्वथा अनैतिक और अलोकतांत्रिक अभियान सत्तारूढ़ शक्तियां अरसे से चला रही हैं। ऐसा लगता है कि खासकर पढ़े-लिखे समाज के एक बड़े हिस्से को उन्होंने अपने पक्ष में कर लिया है। पर दूसरी ओर ऐसे उदाहरण सामने आते रहते हैं जिनसे लगता है कि साधारण लोग अभी भी धार्मिक आपसदारी में यकीन करते और उसे निडर होकर बरतते हैं। गुड़गांव में प्रशासन द्वारा निर्धारित खुले स्थानों पर मुसलमानों को नमाज अदा करने के कुछ उग्र हिन्दू संगठन रोक रहे हैं। ऐसे माहौल में वहां के गुरुद्वारों ने यह प्रस्ताव किया है कि मुसलमान गुरुद्वारों में नमाज अदा कर सकते हैं। हर धार्मिक स्थल

प्रथमतः और अन्ततः ईश्वर की पूजा और प्रार्थना करने की जगह ही होता है। सिखों को यह समझ है कि दूसरे धर्मावलम्बियों का अपने ढंग से प्रार्थना करना उनका अधिकार है और उसके लिए हर धार्मिक स्थल खुला होना चाहिये।

जरा सोचें कि अलग हमारे यहां सारे मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर एवं गुरुद्वारे आदि सब धर्मों की प्रार्थना के लिए खुल जायें तो कितना समरसता, सद्भाव और आपसदारी आदि बढ़ सकते हैं। पहल सिखों ने की है जो भारत में एक अल्पसंख्यक समुदाय हैं। क्या हिन्दुओं, जो कि बहुसंख्यक हैं, ऐसी पहल कर सकते हैं? अगर वैष्णव वही है जो पीर पराई जानता है तो क्या उसे पराये धर्म के लिए भी जगह नहीं बनाना चाहिये? दुर्भाग्य से हिन्दू धर्म के नेतृत्व में दूसरे धर्मों की समझ, उनसे सहानुभूति, उनके प्रति भाईचारे का भाव, पर पीड़ाकातरता, उदारता आदि गुण इतने दुर्लभ हो गये हैं कि ऐसी पहल की आशा नहीं की जा सकती। भारत के समावेशी बनने के लिए जरूरी है कि हिन्दू धर्म अपना कायाकल्प करे, प्रतिशोधक होने की अधर्मी वृत्ति से मुक्त हो और अपना लोकतांत्रिक पुनराविष्कार करे, जातिप्रथा को अतिक्रमित करके।

साभार : www.satyagrah.com/

नमक सत्याग्रह (दांडी मार्च)

31 जनवरी, 1930 को महात्मा गांधी ने वायसराय इरविन को एक पत्र लिखा जिसकी 11 मांगों में सबसे महत्वपूर्ण मांग नमक पर लगने वाले कर को समाप्त करने की थी।

12 मार्च, 1930 में बापू ने अहमदाबाद के पास स्थित साबरमती आश्रम से 240 किमी. दूर गुजरात के दांडी नामक तटीय कस्बे तक 24 दिनों का पैदल मार्च निकाला था। यह पहली राष्ट्रवादी गतिविधि थी, जिसमें औरतों ने भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इस मुद्दे ने पूरे देश में जाति, राज्य, नस्ल और भाषा की सभी दीवारें तोड़ दीं। 5 अप्रैल, 1930 को वे दांडी पहुँचे और वहाँ 6 अप्रैल को मुट्टीभर नमक बनाकर ब्रिटिश राज के खिलाफ बगावत का बिगुल फूँका। नमक सत्याग्रह के दौरान महात्मा गांधी सहित 60,000 लोगों को गिरफ्तार किया गया। 5 मार्च, 1931 को गांधी और इरविन के बीच एक समझौता हुआ जिसे 'गांधी-इरविन समझौता' या 'दिल्ली पैक्ट' के नाम से भी जाना जाता है। इस समझौते के तहत समुद्र के किनारे बसे लोगों को नमक बनाने व उसे एकत्रित करने की छूट दिये जाने की मांग को स्वीकार किया गया।

चंपारण का किसान सत्याग्रह

चंपारण का किसान आंदोलन अप्रैल 1917 में हुआ था। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह और अहिंसा के अपने आजमाए हुए अस्त्र का भारत में पहला प्रयोग चंपारण की धरती पर ही किया। इसी आंदोलन के बाद उन्हें 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित किया गया। यहां पर उस समय अंग्रेजों ने व्यवस्था कर रखी थी कि हर बीघे में तीन कट्टे जमीन पर नील की खेती किसानों को करनी ही होगी। पूरे देश में बंगाल के अलावा यहीं पर नील की खेती होती थी। किसान इस नील की खेती से छुटकारा पाना चाहते थे। जिसके परिणामस्वरूप विद्रोह शुरू हुआ। गांधीजी के नेतृत्व में लड़े गए इस अहिंसक आंदोलन में किसानों और जनता के भरपूर समर्थन और एकजुटता को देखते हुए सरकार ने मामले की जाँच की। जुलाई, 1917 में 'चम्पारण एग्रेरियन कमेटी' के प्रतिवेदन पर 'तिनकठिया प्रणाली' को समाप्त कर दिया। इस तरह यहां पिछले 135 सालों से चली आ रही नील की खेती धीरे-धीरे बंद हो गई। साथ ही नीलहे किसानों का शोषण भी हमेशा के लिए खत्म हो गया।

सिंधु, टिकरी और गाज़ीपुर सीमाएं भारतीय जनतंत्र की यात्रा के मील के पत्थर हैं

अपूर्वानंद



किसान आंदोलन इसका जीवित प्रमाण है कि यदि लक्ष्य की स्पष्टता हो तो विचार भिन्नता के बावजूद संयुक्त संघर्ष किया जा सकता है। संयुक्त किसान मोर्चा ने एक लंबे अरसे बाद संयुक्त संघर्ष की नीति को व्यावहारिकता में साबित करके दिखाया है।

यह लम्हा किसानों का है। उनके संघर्ष का। उस संघर्ष की महिमा का। उनके धीरज का। उनके जीवट का। अपनी समझ पर किसानों के भरोसे का। अभय का। प्रभुता के समक्ष साधारणता का। विशेषज्ञता के आगे साधारण जन के विवेक का। शस्त्रबल के आगे आत्मबल का। सत्ता के अहंकार के समक्ष संघर्ष की विनम्रता का। चतुराई, कपट के समक्ष खुली, निष्कवच सरलता का। कटुता के समक्ष मृदुता का। यह क्षण धर्म की सांसारिक प्रासंगिकता का भी है। सत्याग्रह का।

इस क्षण को क्या हम प्रदूषित करें उसकी चर्चा से और उसके शब्दों के विश्लेषण से जो हिंसा, घृणा, अहंकार, अहमन्यता, कपट, संकीर्णता और क्षुद्रता का पर्याय है? इसे उसका क्षण न बनने दें। यह उसकी रणनीतिक चतुराई पर अवाक् होने का वक्त नहीं है।

याद रखें, तानाशाह और फासिस्ट कभी झुकते हुए दिखना नहीं चाहता। जब वह झुके, इसे उसकी चतुराई कहकर उस पर मुग्ध होने की जगह जनता की शक्ति की विजय का अभिनंदन करने की ज़रूरत है।

साल होने जा रहा है जब यह किसान आंदोलन शुरू हुआ था। इसका केंद्र पंजाब था और यह हरियाणा तक फैला। फिर राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश इसके विस्तार के दायरे में आए।

यह सच है कि भारत के बाकी इलाके इस आंदोलन में उस

प्रकार शामिल नहीं हो पाए जिस तरह पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान थे लेकिन था यह किसान आंदोलन ही। किसानों ने पहले अपने राज्यों में संघर्ष किया और फिर दिल्ली कूच का फैसला किया।

दिल्ली उनकी राजधानी है, सत्ता की नहीं, यह ऐलान उनका था। सत्ता के पास लेकिन पुलिस, सेना, नौकरशाही की ताकत है, हथियारों का बल है। सो, उसके बल पर दिल्ली की सीमाओं पर उन्हें रोक दिया गया। किसानों ने ताकत की आजमाइश आत्मबल के सहारे ही करने का निर्णय किया।

जिन गुरु गोविंद सिंह और तेगबहादुर सिंह के नाम पर हिंदुओं में मुसलमानों के खिलाफ घृणा पैदा करने की कोशिश की जाती है, उन्हें सत्ता के खिलाफ संघर्ष का प्रतीक मनाकर यह आंदोलन आगे बढ़ा। एक केंद्रीय सत्ता यदि सबको कुचलना चाहे तो विद्रोह वहां से होगा जिसे परिधि कहते हैं। गुरु तेग बहादुर को इस तरह इस आंदोलन ने सत्ता से मुकाबले के लिए साहस के प्रतीक के तौर पर इस्तेमाल किया।

यह सुमति का आंदोलन था। वह सुमति जिसका महत्त्व जवाहरलाल नेहरू ने मथुरा में एक किसान से समझा था। उसने उनसे और कांग्रेसजन से कहा तुलसी के हवाले से 'जहां सुमति तहां संपति नाना।' सुमति जो कुमति को पहचानती है। सुमति जो सरल है लेकिन मूर्ख नहीं है। इसलिए किसानों ने सारे उकसावों को

देखा और समझा और उनके जाल फंसने से इनकार कर दिया।

यह आंदोलन इसका जीवित प्रमाण है कि यदि लक्ष्य की स्पष्टता हो तो विचार भिन्नता के बावजूद संयुक्त संघर्ष किया जा सकता है। संयुक्त किसान मोर्चा ने एक लंबे अरसे बाद संयुक्त संघर्ष की नीति को व्यावहारिकता में साबित करके दिखलाया। साझा संघर्ष मुमकिन है अगर चूल्हा साझा हो।

इस आंदोलन से राजनीतिक दलों को भी सबक लेना चाहिए। यह आत्मावलोकन करना चाहिए कि क्या उनके लिए वे महत्वपूर्ण हैं या उनका लक्ष्य।

यह क्षण संघर्ष के महत्त्व को स्थापित करने का है। सत्ता की ताकत कितनी ही हो, वह कितनी ही साधन संपन्न हो, यदि अपने लक्ष्य की पवित्रता और साधन पवित्रता में विश्वास है तो संघर्ष में निराश होने का कारण नहीं है। असल बात है संघर्ष। विजय होगी या नहीं, यह संघर्ष के अलावा अन्य कई कारणों से तय होगा। हम उन कारणों को प्रभावित न कर पाएं तो भी हमारे पास संघर्ष के अलावा और कोई विकल्प नहीं।

पिछले सात साल भारत की जनता के प्रत्येक तबके की तबाही के साल रहे हैं। छोटे व्यापारियों, नौकरीशुदा लोगों, मजदूरों, नौजवानों के खिलाफ जैसे इस हुकूमत ने जंग छेड़ दी है। मुसलमानों और ईसाईयों या दलितों की अभी हम बात नहीं कर रहे।

जीएसटी हो या नोटबंदी, उसने साधारण जन की कमर तोड़ दी। लेकिन न तो व्यापारी खड़े हुए न नौजवान। हां मुसलमान, वह भी मुसलमान औरतें खड़ी हुईं। नहीं कह सकते कि वे हार गईं क्योंकि एनआरसी की प्रक्रिया बावजूद सारी डींगों के शुरू नहीं की जा सकी। किसान खड़े हुए थे भूमि अधिग्रहण अधिनियम के

विरोध में और उसे रद्द करना पड़ा था।

इस आंदोलन के पीछे एक आंदोलन की शिक्षा है। सीएए के खिलाफ आंदोलन की। उसके धीरज, धीरज और टिकाव की। उसके सद्भाव की। संविधान और अहिंसा पर उसके जोर की। वह एक स्थगित आंदोलन है। लेकिन वह है, उसका संघर्ष है।

कृषि कानूनों के लागू होने के बाद सारी राजनीतिक पस्ती के बीच किसानों ने संघर्ष पथ पर जाने का निर्णय किया। कृषि विशेषज्ञ व्यंग्य से मुस्कराए, किसानों पर उन्होंने तरस खाया। राजनीतिक दल पहले ज़रा सकपकाए लेकिन फिर आंदोलन से उन्होंने बल प्राप्त किया। किसानों ने अपना संघर्ष दूषित न होने दिया। सत्ता के सारे दमन और असत्य के बावजूद।

सत्ता के सारे केंद्रों ने किसानों पर आक्रमण किया। अदालत ने चतुराई की। किसानों ने मात्र अपने संघर्ष की सरलता के सहारे शिकस्त मानने से इंकार किया।

सिंधु, टिकरी, शाहजहांपुर और गाजीपुर भारतीय जनतंत्र की यात्रा के मील के पत्थर हैं। अभी राजनीति शास्त्र को भी इन्हें समझना शेष है।

जैसा हमने कहा यह पवित्र क्षण है। संघर्ष की निर्विकल्पता की घोषणा का। विजय से कहीं ज़्यादा। अभी हम उसी पर ध्यान केंद्रित करें।

दिल्ली धन्य हुई है कि उसकी सरहदों से जनतंत्र की प्राणवायु इस फासिज़्म के दमघोंटू प्रदूषण में उसकी सांस बचाने उस तक प्रवाहित हुई है। इस विजय के फलितार्थ के विश्लेषण का क्षण भी आया।

अभी तो संघर्ष की जय कहें।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं।)



आशा का बीज

प्रतिकूल परिस्थितियों में धुंधली आँखों के लिए एकमात्र आशा की प्रदीप्त किरण है तो यही कि धरती बीज नहीं चुराती! और यह बीज बचा रहेगा देश की सत्तर प्रतिशत भूखी आबादी की मजबूरियों के बीच, जिन्हें चाहने पर भी मजूरी नहीं मिलती! वे भूखे हैं! बापू की नाईं अधनंगे हैं! जिनके पांवों तले न फर्श है और न सिर पर छत! वहीं... सिर्फ वहीं आशा का बीज अंकुरित होगा, पल्लवित होगा! और वही सघन विशाल कल्पवृक्ष समूचे देश को सुख-शांति की छांव प्रदान करेगा! उसी अभावग्रस्त आबादी से नए-नए भगतसिंह, नए-नए महात्मा गांधी और नए-नए कार्ल मार्क्स पैदा होंगे, जिनके सम्मिलित, संतुलित धमाकों से अंधे-बहरे शोषकों के कान फटने लगेंगे और आँखें उघड़ने लगेंगी तो उघड़ती ही जाएंगी... उघड़ती ही जाएंगी... जब तक वे अपने ही ज्वालामुखी में भस्म न हो जाएं...!

—विजयदान देशा
जाने-माने साहित्यकार

किसान ने कई मोर्चों पर जीत दर्ज की है, लेकिन मीडिया सब पर हारा है

पी. साईनाथ



तीनों कृषि कानूनों को इसलिए निरस्त नहीं किया गया क्योंकि प्रधानमंत्री कुछ किसानों को विश्वास दिलाने में विफल रहे, बल्कि उन्हें इसलिए वापस लिया गया क्योंकि कई किसान दृढ़ता से खड़े रहे, जबकि कायर मीडिया उनके खिलाफ माहौल बनाकर उनके संघर्ष और ताकत को कम आंकता रहा।

जो मीडिया कभी भी खुले तौर पर स्वीकार नहीं कर सकता है वह यह है कि वर्षों में जिस सबसे बड़े लोकतांत्रिक शांतिपूर्ण विरोध प्रदर्शन को दुनिया ने देखा, जो कि निश्चित तौर पर कोरोना महामारी के चरम पर होने के बावजूद भी बेहद व्यवस्थित ढंग से आयोजित किया गया था, उसने एक बहुत बड़ी जीत हासिल की है।

एक जीत जो एक विरासत को आगे बढ़ाती है। आदिवासी और दलित समुदायों समेत सभी प्रकार के पुरुष और महिला किसानों ने इस देश के स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। और हमारी आजादी के 75वें वर्ष में दिल्ली की सीमाओं पर किसानों ने उस महान संघर्ष की भावना को फिर से दोहराया।

देश के प्रधानमंत्री ने घोषणा की है कि वे कृषि कानूनों से पीछे हट रहे हैं और 29 नवंबर से शुरू होने वाले संसद के आगामी शीतकालीन सत्र में उन्हें वापस लेने जा रहे हैं। उनका कहना है कि वे अपने सर्वोत्तम प्रयासों के बावजूद भी किसानों के एक वर्ग को मनाने में विफल रहने के बाद ऐसा कर रहे हैं।

उनके शब्दों पर ध्यान दीजिए, सिर्फ एक वर्ग को वह यह स्वीकार करने के लिए नहीं मना सके कि किसानों द्वारा ठुकराए गए तीनों कृषि कानून वास्तव में उनके लिए अच्छे थे। इस ऐतिहासिक संघर्ष के दौरान

मारे गए 600 से अधिक किसानों की जान जाने के संबंध में उन्होंने एक शब्द नहीं कहा।

उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि कानूनों का उजला पक्ष देखने के लिए किसानों के उस वर्ग को कुशलतापूर्वक न समझा पाना ही उनकी विफलता है। कोई भी विफलता कानूनों से जुड़ी नहीं है या उनकी सरकार ने कैसे उन कानूनों को ठीक महामारी के बीच ही किसानों पर थोप दिया।

खैर, जिन्होंने मोदी के आकर्षण द्वारा फुसलाए जाने से इनकार कर दिया, उन्हें खालिस्तानी, देशद्रोही, किसानों का वेष धरे फर्जी कार्यकर्ताओं को 'किसानों के एक वर्ग' के नाम से बुलाया जाने लगा। सवाल है कि उन्होंने इनकार क्यों कर दिया? किसानों को मनाने का तरीका क्या था?

अपनी शिकायतों को समझाने के लिए राजधानी में उन्हें प्रवेश देने से इनकार करना? रास्तों पर बड़े-बड़े गड्डे खोदकर और कंटीले तारों से उनका मार्ग अवरुद्ध कर देना? उन पर वॉटर कैनन का प्रहार करवाना? उनके शिविरों को छोटे गुलाग (सोवियत संघ में श्रमिकों को रखने की जेलें, जिनमें कई श्रमिक मारे गए थे) में तब्दील करना? अपने दरबारी मीडिया के जरिये हर दिन किसानों को बदनाम करवाना? उनके ऊपर गाड़ियां चढ़ाकर, जिसके मालिक कथित तौर पर एक केंद्रीय मंत्री और उनका बेटा है?



यह है इस सरकार का किसानों को मनाने का तरीका? अगर वे सरकार के सर्वोत्तम प्रयास थे तो हम कभी भी इसके सबसे बुरे प्रयासों को नहीं देखना चाहेंगे।

अकेले इस साल ही प्रधानमंत्री ने कम-से-कम सात विदेश यात्राएं कीं। लेकिन उनके आवास से कुछ किलोमीटर की दूरी पर ही दिल्ली के दरवाजे पर बैठे हजारों किसानों से मिलने के लिए जाने का समय उन्हें कभी एक बार भी नहीं मिला, जबकि उन किसानों की पीड़ा को देश में हर जगह ढेरों लोगों ने महसूस किया।

क्या यह किसानों को समझाने-बुझाने, उनमें विश्वास जगाने और उनकी शंकाओं को दूर करने की दिशा में ईमानदार प्रयास नहीं होता?

वर्तमान आंदोलन के पहले ही महीने से मैं मीडिया और अन्य लोगों के सवालियों से घेर लिया गया था कि किसान संभवतः कब तक आंदोलन पर बैठे रह सकते हैं? किसानों ने उस सवाल का जवाब दे दिया है। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि उनकी यह शानदार जीत अभी पहला कदम है।

कानून वापसी का मतलब है कि अभी के लिए किसानों की गर्दन पर रखा कॉरपोरेट जगत का पैर हटाना। लेकिन न्यूनतम समर्थन मूल्य और सरकारी खरीद से लेकर आर्थिक नीतियों जैसे अधिक बड़े मुद्दों तक, अन्य समस्याओं का एक बेड़ा अभी भी समाधान की मांग करता है।

टेलीविजन पर एंकर हमें बताते हैं, मानो कि यह एक अद्भुत खुलासा हो, कि सरकार द्वारा कदम पीछे खींचने का जरूर कुछ संबंध अगले साल फरवरी में होने वाले आगामी विधानसभा चुनावों के साथ है।

यही मीडिया आपको नवंबर को घोषित 29 विधानसभा और 3 संसदीय क्षेत्र में उपचुनाव के नतीजों के महत्व के बारे में कुछ भी बताने में विफल रहा। उस समय के आसपास आए संपादकीय पढ़िए और देखिए कि टीवी पर विश्लेषण के लिए क्या स्वीकृत किया गया।

उन्होंने आम तौर पर उपचुनाव जीतने वाले सत्तारूढ़ दलों की बात की, स्थानीय स्तर पर कुछ गुस्से की बात की (जो सिर्फ भाजपा के खिलाफ नहीं था) और भी ऐसी बकवास की। कुछ संपादकीयों में जरूर उन चुनाव परिणामों को प्रभावित करने वाले दो कारकों का जिक्र था, जो किसान आंदोलन और कोविड-19 कुप्रबंधन थे।

मोदी की 19 नवंबर की घोषणा दिखाती है कि उन्होंने कम-से-कम, और अंत में, उन दोनों कारकों के महत्व को समझदारी से समझा है। वे जानते हैं कि जिन राज्यों में किसान

आंदोलन उग्र है, वहां कुछ बड़ी हार मिली हैं। लेकिन मीडिया अपने दर्शकों को रटा रहा है कि आंदोलन का असर सिर्फ पंजाब और हरियाणा में था, राजस्थान और हिमाचल जैसे राज्य उनके विश्लेषण का हिस्सा नहीं बन सके।

हमने आखिरी बार कब राजस्थान के दो निर्वाचन क्षेत्रों में भाजपा या संघ परिवार की किसी इकाई/संगठन को तीसरे और चौथे स्थान पर आते देखा था? या फिर हिमाचल में मिली भारी हार को ही लें जहां वे तीनों विधानसभा और एक संसदीय सीट हार गए?

हरियाणा में आंदोलनकारी किसानों ने आरोप लगाया कि 'सीएम से लेकर डीएम तक पूरी सरकार' भाजपा के लिए प्रचार कर रही थी। यहां कांग्रेस ने मूर्खता दिखाते हुए किसानों के मुद्दे पर इस्तीफा देने वाले अभय चौटाला के खिलाफ उम्मीदवार खड़ा कर दिया। साथ ही, केंद्रीय मंत्रियों ने पूरी ताकत के साथ मोर्चा संभाला हुआ था। इस सबके बावजूद भी भाजपा वहां हार गई।

कांग्रेस उम्मीदवार की जमानत जल्द हो गई लेकिन वह चौटाला की जीत के अंतर को कुछ कम करने में सफल रहा। फिर भी चौटाला 6,000 से अधिक मतों से जीते।

तीनों राज्यों ने किसान आंदोलन का प्रभाव महसूस किया और कॉरपोरेट जगत के गिद्धों के विपरीत प्रधानमंत्री ने उस प्रभाव को समझा। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में उन विरोध प्रदर्शन के प्रभाव से उन्हें ऐसा बोध हुआ, जिनमें लखीमपुर खीरी में भयावह हत्याओं से हुआ आत्मघाती नुकसान भी शामिल था और अब से शायद 90 दिनों में उस राज्य में चुनाव भी आने वाले हैं।

2022 तक किसानों की आय दोगुनी करने का क्या हुआ? एनएसएस (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 2018-19) का 77वां दौर किसानों के लिए फसल की खेती से होने वाली आय के हिस्से में गिरावट दर्शाता है—कुल मिलाकर किसान की आय को दोगुना करना भूल जाइए। यह खेती-किसानी से हुई वास्तविक आय में भी शुद्ध गिरावट दिखाता है।

किसानों ने वास्तव में कानूनों को वापस लेने की उस दृढ़ मांग को हासिल करने से भी कहीं अधिक बड़ा काम किया है। उनके संघर्ष ने इस देश की राजनीति को गहराई तक प्रभावित किया है। जैसा कि 2004 में हुआ।

यह कृषि संबंधी संकट का अंत बिल्कुल नहीं है। यह तो उस संकट संबंधी बड़े मुद्दों पर लड़ाई के एक नए चरण की शुरुआत है।

किसान आंदोलन अब लंबे समय से चल रहा है। और विशेष रूप से 2018 से मजबूती से उभरा है, जब महाराष्ट्र के

४ • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2021

आदिवासी किसानों ने नासिक से मुंबई तक अपने 182 किलोमीटर के विस्मित कर देने वाले पैदल मार्च से देश को उत्तेजित कर दिया था। फिर भी यह उन्हें 'अर्बन नक्सल' के रूप में खारिज किए जाने और बाकी सब अनर्गल विलाप के साथ शुरू हुआ। उन्हें असली किसान नहीं माना गया। उनके मार्च ने उनकी निंदा करने वालों को हरा दिया।

आज यहां कई जीत मिली हैं। जिनमें वह जीत बिल्कुल शामिल नहीं है जो कॉरपोरेट मीडिया पर किसानों ने दर्ज की है। खेती के मुद्दे पर (जैसा कि कई अन्य मुद्दों पर), उस मीडिया ने अतिरिक्त शक्ति वाली एए बैटरी (एम्पलीफाइंग अंबानी अडाणी+) के रूप में काम किया।

दिसंबर 2021 और अप्रैल 2022 के बीच हम राजा राममोहन रॉय द्वारा शुरू की गई दो महान पत्रिकाओं के 200 साल पूरे करेंगे। दोनों पत्रिकाओं को सही अर्थों में भारतीय प्रेस की शुरुआत कहा जा सकता है। इनमें से एक मिरात-उल-अखबार था, जिसने कोमिला (अब चटगांव, बांग्लादेश में) में एक न्यायाधीश द्वारा दिए गए आदेश पर कोड़े मारकर की गई प्रताप नारायण दास की हत्या पर अंग्रेजी प्रशासन को बेहतर तरीके से बेनकाब किया था। रॉय के प्रभावशाली संपादकीय कानूनीय यह हुआ कि न्यायाधीश को उत्तरदायी ठहराया गया और तबके सबसे बड़े न्यायालय में उन पर मुकदमा चलाया गया।

गवर्नर जनरल ने प्रेस को आतंकित करके इस पर प्रतिक्रिया दी। एक कठोर नए प्रेस अध्यादेश को लागू करके उन्होंने रॉय को झुकाने की कोशिश की। इसे मानने से इनकार करते हुए रॉय ने घोषणा की कि वे नीचा दिखाने वाले और अपमानजनक कानूनों और परिस्थितियों के सामने समर्पण करने के बजाय मिरात-उल-अखबार को बंद कर रहे हैं। (और अन्य पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी लड़ाई को आगे बढ़ाने चल दिए।)

वह साहस की पत्रकारिता थी, न कि दोस्ताना साहस और आत्मसमर्पण वाली वह पत्रकारिता जो हम कृषि मसले पर देख चुके हैं। बेनाम या बिना दस्तखत के संपादकीय में किसानों के लिए 'चिंता' का दिखावा किया गया, जबकि अन्य पत्रों पर उन्हें अमीर किसान बताकर उनकी आलोचना की गई कि वे अमीरों के लिए समाजवाद की मांग कर रहे हैं।

द इंडियन एक्सप्रेस, द टाइम्स ऑफ इंडिया जैसे अखबारों का लगभग पूरा वर्ग अनिवार्य तौर पर कहता था कि ये गांव के देहाती लोग थे जिनसे केवल प्यार से बात किए जाने की जरूरत थी। ये संपादकीय इस कदर समान थे कि हमेशा बिना किसी भिन्नता के एक ही अपील पर समाप्त हुए कि सरकार इन कानूनों को वापस न ले, वे वास्तव में अच्छे हैं। ये हालात ज्यादातर

बाकी मीडिया प्रकाशनों का भी रहा।

क्या इनमें से किसी प्रकाशन ने किसानों और कॉरपोरेट्स के बीच जारी गतिरोध के बीच एक बार भी अपने पाठकों को बताया था कि मुकेश अंबानी की 84.5 बिलियन डॉलर (फोर्ब्स 2021) की व्यक्तिगत संपत्ति तेजी से पंजाब राज्य के जीएसडीपी (लगभग 85.5 बिलियन डॉलर) के करीब आ चुकी है? क्या उन्होंने एक बार भी आपको बताया कि अंबानी और अडाणी (50.5 बिलियन डॉलर) दोनों की कुल संपत्ति मिलाकर पंजाब या हरियाणा के जीएसडीपी से अधिक थी?

पर विकट स्थितियां हैं। अंबानी भारत में मीडिया के सबसे बड़े मालिक हैं। और उन मीडिया में जिनके वे मालिक नहीं हैं, वहां वे संभवतः सबसे बड़े विज्ञापनदाता हैं। इन दो उद्योगपतियों की संपत्ति के बारे में सामान्य तौर पर अक्सर जश्न मनाने वाले अंदाज में लिखा जाता है। यह कॉर्पो-क्रॉल यानी कॉरपोरेट के सामने झुकने वाली पत्रकारिता है।

पहले से ही चर्चाएं हैं कि मोदी सरकार की कृषि कानूनों पर कदम पीछे खींचने की यह धूर्ततापूर्ण रणनीति कैसे पंजाब विधानसभा चुनावों में महत्वपूर्ण प्रभाव डालेगी। अमरिंदर सिंह ने इसे कांग्रेस से इस्तीफा देकर और मोदी के साथ समझौता करके बनाई गई योजना के तहत मिली जीत के रूप में पेश किया है। यह वहां चुनावी तस्वीर को बदल देगा।

लेकिन उस राज्य के सैकड़ों-हजारों लोग, जिन्होंने उस संघर्ष में भाग लिया है, जानते हैं कि यह किसकी जीत है। पंजाब के लोगों के दिल उन लोगों के साथ हैं जिन्होंने आंदोलन शिविरों में दशकों बाद दिल्ली में पड़ी सबसे खराब सर्दियों में से एक को सहा है, भीषण गर्मी और उसके बाद बारिश को झेला है, और मोदी व उनकी गुलाम मीडिया के घिनौने बर्ताव का सामना किया है।

और शायद सबसे अहम चीज जो आंदोलनकारियों ने हासिल की है वह यह है, अन्य क्षेत्रों में भी प्रतिरोध की आवाजों को प्रेरित करना, एक ऐसी सरकार के खिलाफ जो अपने आलोचकों को जेल में डाल देती है या उनको प्रताड़ित करती है। जो गैरकानूनी गतिविधि (रोकथाम) अधिनियम के तहत पत्रकारों समेत आम नागरिकों को खुलेआम गिरफ्तार करती है और 'आर्थिक अपराधों' के लिए स्वतंत्र मीडिया की आवाज को कुचलती है।

यह सिर्फ किसानों की जीत नहीं है। यह नागरिक स्वतंत्रता और मानवाधिकारों की लड़ाई की जीत है। भारतीय लोकतंत्र की जीत है।

साभार : <http://thewirehindi.com/>

क्या दिया नर्मदा बचाओ आंदोलन के पैंतीस सालों ने

शिवप्रसाद जोशी



बांध परियोजनाओं के खिलाफ पूरी दुनिया में अहिंसक संघर्ष का प्रतीक बन चुके नर्मदा बचाओ आंदोलन को 35 साल पूरे हो चुके हैं। बीते साढ़े तीन दशकों में उसने दूसरे आंदोलनों को प्रेरणा दी है।

नर्मदा नदी घाटी पर 30 बड़ी, 136 मझौली और 3000 लघु बिजली परियोजनाएं बनी हैं। नर्मदा परियोजना का विरोध शुरू हो चुका था। इसे मुकम्मल पहचान मिली 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' से जो संभवतः देश में सबसे लंबी अवधि तक चलते रहने वाले जनांदोलनों में अग्रणी है। सफलता या विफलता से नहीं, आंदोलन ने अपनी जिजीविषा, इरादों और अपने प्रभावों से देश दुनिया में उन सबका ध्यान भी खींचा जो विकास, पर्यावरण और मानवाधिकारों की बहसों से जुड़े हैं।

नर्मदा बचाओ आंदोलन का 35 साल का सफर दिखाता है कि आखिर कैसे ये आंदोलन इतने लंबे समय से टिका रह पाया और कैसे इसके बिना देश में जनसंघर्षों और विकास के अंतर्विरोधों की बहस भी अधूरी रह जाती है। मोटे तौर पर हैरान कर देने वाले इस तथ्य की बारीकी में जाएं तो हमें संगठन का पारदर्शी और पदाधिकारविहीन लोकतांत्रिक स्वरूप, ठोस सुचिंतित और सुव्यवस्थित प्लानिंग, दीर्घ कार्ययोजना, संगठित, सुगठित, प्रतिबद्ध और समर्पित कार्यकर्ता और कुशल जनसंपर्क अभियान जैसे रणनीतिक कौशल देखने को मिलते हैं। और इन सबके पीछे पर्यावरण और समाजशास्त्र की विदुषी मेधा पाटकर का ऊर्जावान नेतृत्व भी है।

दूसरे आंदोलनों को दी प्रेरणा

इस आंदोलन की एक उपलब्धि ये भी है कि इसने देश के अन्य जमीनी संघर्षों के लिए एक तरह से संबल और प्रेरणा का काम किया। मुंबई का घर बनाओ घर बचाओ आंदोलन हो या भूमि अधिग्रहण कानून में बदलाव या आंदोलन के आधार पर अदालतों के देश की अन्य विवादास्पद परियोजनाओं के करोड़ों विस्थापितों के लिए सुनाए गये लाभकारी फैसले, कई मायनों में ये 35 साल महत्वपूर्ण रहे हैं। आंदोलन को बाबा आम्टे जैसे समाजसेवियों और

नर्मदा नदी के मर्मज्ञ पर्यावरणप्रेमी लेखक अमृतलाल बेगड़ और अरुंधति जैसे बहुत से लेखकों का ही नहीं राजेंद्र सच्चर, प्रशांत भूषण जैसी मशहूर हस्तियों का साथ भी मिलता रहा।

आजादी के समय ही बनी थी योजना

नर्मदा नदी घाटी पर बांध परियोजना के निर्माण की शुरुआती परिकल्पना नवाग्राम प्रोजेक्ट के नाम से 1947 में ही कर ली गयी थी। 1978 में इसे सरदार सरोवर परियोजना के नाम से जाना गया। मई 1985 में विश्व बैंक के साथ 45 करोड़ डॉलर कर्ज का समझौता हुआ। 1987 में बांध विस्थापितों ने असहयोग आंदोलन छेड़ दिया और इसके बाद अगला दशक यानी 1990 का पूरा दशक नर्मदा आंदोलन से थरथराता रहा। पुलिस कार्रवाइयां, अदालती मामले, धरना प्रदर्शन, जुलूस, आक्रोश, अनशन-आंदोलन में स्वयंसेवियों और पर्यावरण कार्यकर्ताओं की हिस्सेदारी बढ़ती गयी। विभिन्न अदालती आदेशों, विवादों और राज्य सरकारों के बीच हितों के टकरावों और आंदोलनकारियों की मुसीबतों और लड़ाइयों के वर्षों से जारी सिलसिले के बीच 2017 में विशालकाय सरदार सरोवर बांध देश को समर्पित किया गया।

बांध परियोजनाओं के लाभों की फेहरिस्त जितनी लंबी है उतनी ही उन पर बहस और सवालियों की भी है। मुकम्मल पुनर्वास लंबित है और विस्थापितों का आंदोलन थमा नहीं है लेकिन उसकी गतिशीलता में बाधाएं खड़ी की गयी हैं। जाहिर है ये आंतरिक थकान ही नहीं उन बहुत भारी, सुनियोजित बाहरी और अंदरूनी दबावों का नतीजा भी है जिनसे आंदोलनकारी विस्थापित घिरे हुए हैं। संघर्ष प्रक्रिया उत्तरोत्तर कठिन होती जा रही है, नागरिक आंदोलनों के खिलाफ दबाव बढ़ रहे हैं।

साभार : <https://www.dw.com/>

वन संरक्षण का अनूठा तरीका : चिपको आंदोलन

सुरेंद्र रावत (आईएसडी)



चिपका डाल्युं पर न कटण घावा,
पहाड़ी की सम्पति अब न लुटण घावा।

हरे वृक्षों को बचाने के लिए उनसे चिपककर सर्वप्रथम अपने प्राणों की आहुति देने की घटना सितंबर 1730 में राजस्थान के जोधपुर जिले के खेजडली गांव में घटित हुई थी। लेकिन वृक्षों को बचाने के लिए प्रतिरोधों की परंपरा में मील का पत्थर साबित हुआ साल 1974 में मार्च माह की 26 तारीख को किया गया 'अंग्वाल (चिपको) आंदोलन।'

चिपको की शुरूआत स्वतःस्फूर्त थी। वन विभाग ने उत्तराखंड में जोशीमठ के रैणी गाँव के करीब 680 हेक्टेयर जंगल ऋषिकेश के एक ठेकेदार जगमोहन भल्ला को वन कटाई के लिए नीलाम कर दिया। रैणी गाँव की महिलाओं ने जब वन अधिकारी, ठेकेदार और उसके कारिंदों को आरी और कटान की तैयारी के साथ देखा तो वे दहल गई क्योंकि उस वक्त गाँव में कोई पुरुष भी नहीं था जो उन ठेकेदारों को रोकता। अब उनके सामने एक ही रास्ता था अपनी जान देकर जंगल को बचाना, जिसकी पहल की महिला मंगल दल की अध्यक्ष गौरा देवी ने। उन्होंने गाँव की महिलाओं को एकत्र किया और उनके नेतृत्व में महिलाओं ने कुल्हाड़ियों और आरियों से डरे बिना पेड़ों से चिपककर हुंकार भरी कि—“पहले हमें काट लो, फिर इन पेड़ों को भी काट लेना।” तब पेड़

काटने गये ठेकेदार और उसके लोगों को उनके सामने हथियार डालने पड़े। इस तरह पेड़ काटने वालों को भगाकर महिलाओं ने एक इतिहास रच डाला।

रैणी में हुए चिपको की खबर पाकर अगले दिन से आसपास के एक दर्जन से अधिक गांवों के सभी महिला-पुरुष बड़ी संख्या में वहां पहुंचने लगे। अब यह एक जन-आंदोलन बन गया। बारी-बारी से एक-एक गांव पेड़ों की चौकसी करने लगा। दूर-दराज के गांवों में चिपको का संदेश पहुँचाने के लिए विभिन्न

पद्धतियों का सहारा लिया गया जिनमें प्रमुख थे पदयात्राएँ, लोकगीत तथा कहानियाँ आदि। लोकगायकों ने उत्तेजित करने वाले गीत गाये। ऐसा ही एक पहाड़ी गीत था—“चिपका डाल्युं पर न कटण घावा, पहाड़ी की सम्पति अब न लुटण घावा।” जिसका अंग्वाल (चिपको) आंदोलन की सफलता में बड़ा योगदान रहा। इस गीत की पंक्तियों के माध्यम से आंदोलनकारी महिलाओं ने पेड़ बचाने, प्रकृति बचाने का आह्वान किया था। इस गीत को सुनकर गांव के गांव एक साथ चल पड़ते थे।

उन्होंने वनों की कटाई और वन आधारित उद्योगों से रोजगार के अल्पजीवी अर्थव्यवस्था के नारे—

“क्या हैं जंगल के उपकार,



लीसा, लकड़ी और व्यापार”

को चुनौती देते हुए इससे बिल्कुल भिन्न नारे का जयघोष किया—

“क्या हैं जंगल के उपकार, मिट्टी, पानी और बयार।

मिट्टी, पानी और बयार, जिंदा रहने के आधार।”

बाद में इन महिलाओं ने वन विभाग के अधिकारियों के सामने अपनी समस्या को रखा और फिर इस घटना ने देशभर में चिपको आंदोलन को चर्चित कर दिया। इस घटना का प्रभाव इतना था कि बहुत से लोग इसे ही चिपको आंदोलन की शुरुआत भी मानते हैं। वास्तविकता में भारत के आधुनिक इतिहास में चिपको आंदोलन 1970 के दशक में बहुत प्रभावी आंदोलनों में से एक अहिंसक और अनोखा आंदोलन था।

रैणी की सफलता के बाद सरकार और शासन में अनेक स्तरों पर जंगलात के प्रश्नों को देखा तथा समझा जाने लगा। इस आंदोलन ने 1980 में तब एक बड़ी जीत हासिल की जब तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने एक समिति बनाई जिसकी सिफारिश पर उत्तराखंड (तब उत्तर प्रदेश का हिस्सा) के हिमालयी वनों में वृक्षों को काटने पर 15 वर्षों के लिए रोक लगा दी गई।

उस समय अलकनंदा घाटी से उभरा चिपको का संदेश जल्दी ही दूसरे इलाकों में भी फैल गया। नैनीताल और अल्मोड़ा में आंदोलनकारियों ने जगह-जगह हो रही जंगल की नीलामी रोकी। 1977 में इसमें छात्र भी शामिल हो गए। टिहरी में ये आंदोलन सुंदरलाल बहुगुणा के नेतृत्व में चला। बहुगुणा तो टिहरी में बाँध विरोधी आंदोलन को भी चिपको की ही एक कड़ी मानते हैं। इसी तरह से कुमाँऊ और गढ़वाल के विभिन्न इलाकों में अलग-अलग समय पर चिपको की तर्ज पर आंदोलन होते रहे।

बाद के वर्षों में यह आन्दोलन पूर्व में बिहार, पश्चिम में राजस्थान, उत्तर में हिमाचल प्रदेश और मध्य भारत में विन्ध्य तक फैल गया था। दक्षिण के कर्नाटक राज्य में वृक्षों को बचाने के लिए मशहूर ‘अपिको आंदोलन’ भी चिपको से ही प्रभावित होकर शुरू किया गया था। उत्तर प्रदेश में प्रतिबंध के अलावा यह आन्दोलन पश्चिमी घाट और विन्ध्य पर्वतमाला में वृक्षों की कटाई को रोकने में सफल रहा। साथ ही यह लोगों की आवश्यकताओं और पर्यावरण

के प्रति अधिक सचेत प्राकृतिक संसाधन नीति के लिए दबाव बनाने में भी सफल रहा।

वन संरक्षण के इस अनूठे आंदोलन ने न सिर्फ देशभर में पर्यावरण के प्रति एक नई जागरूकता पैदा की बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ‘नारीवादी पर्यावरणवाद’ का एक नया मुहावरा भी विकसित किया। इस नारीवादी पर्यावरणवाद में चिपको आंदोलन का मतलब सिर्फ पेड़ों से चिपकना और उन्हें कटने से ही नहीं बचाना था बल्कि हरियाली फैलाना और जल-जंगल-जमीन पर स्थानीय अधिकारों को बनाए रखना तथा पर्यावरण की समस्याओं को प्रकाश में लाना भी था।

हिमालयन एक्शन रिसर्च सेंटर के एक कार्यकर्ता कहते हैं कि “चिपको की इस लड़ाई ने ये साबित कर दिया कि गाँव के लोग ही पर्यावरण को बचा कर रख सकते हैं जबकि अब तक ये मान्यता थी कि अपनी जरूरतें पूरी करने के लिये वह जंगल को नुकसान पहुंचाते हैं।”

वैसे तो चिपको आंदोलन में पुरुषों और छात्रों ने भी हिस्सा लिया लेकिन ख़ास बात ये रही कि हर जगह इसे ताकत मिली महिलाओं से चाहे वो रैणी और लाता गांव की गौरा देवी और बाली देवी हों या उत्तरकाशी के किशनपुर गाँव की चूमा देवी हों या फिर अदवाणी गाँव की बचनी देवी हों जिन्होंने अपने ही घर में ठेकेदार पति के खिलाफ बगावत का झंडा बुलंद किया।

इस आंदोलन की मुख्य उपलब्धि ये रही कि इसने केंद्रीय राजनीति के एजेंडे में पर्यावरण को एक सघन मुद्दा बना दिया जैसा कि चिपको के नेता रहे कुमाँऊ यूनिवर्सिटी के प्रो. डॉ.शेखर पाठक कहते हैं, “1980 का वन संरक्षण अधिनियम और यहाँ तक कि केंद्र सरकार में पर्यावरण मंत्रालय का गठन भी चिपको की वजह से ही संभव हो पाया।” लेकिन डॉ. पाठक ये भी जोड़ते हैं, “चिपको विफल भी इसलिये हुआ कि इसकी राजनैतिक संभावनाओं का पूरा उपयोग नहीं हुआ जब कुछ युवाओं ने ऐसा करने की कोशिश भी की तो इसके नेताओं ने किनारा कर लिया।”

आज की तारीख में भले इसकी चमक धुंधला गई है बावजूद इसके अवशेषों में सतत कौंध बनी हुई है जो आज भी पर्यावरण प्रेमियों के बीच उम्मीद की हरी-भरी किरण की तरह बरकरार है।



“पहाड़ हमारे लिए भगवान हैं और पेड़ हमारे लिए पूजा। भारत में हो या फिर दुनिया में कहीं भी पेड़ पौधे, नदी-झरने, पहाड़ सभी जगह एक जैसे हैं। चांदनी की जो किरणें धरती पर गिरती हैं वो भी सभी जगह एक जैसी ही हैं। पर्यावरण को बचाने के लिये हमारी लड़ाई एक ही है। हम सब बहनें एक हैं।”

—बाली देवी (संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम में अतिथि के तौर पर आमंत्रित आंदोलन की कमान संभालने वाली दूसरी महिला)

सूचना का अधिकार आंदोलन



इस आंदोलन के दबाव में राजस्थान सरकार को पंचायती राज कानून में संशोधन करना पड़ा और नए कानून के तहत जनता को पंचायत के दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतिलिपि प्राप्त करने की अनुमति मिल गई।

सूचना का अधिकार आंदोलन जन आंदोलनों की सफलता का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। यह आंदोलन सरकार से एक बड़ी मांग को पूरा कराने में सफल रहा है। यह आंदोलन 1990 में प्रारम्भ हुआ और इसका नेतृत्व मजदूर किसान शक्ति संगठन ने किया

था। राजस्थान में कार्यरत इस संगठन ने सरकार के समक्ष यह मांग रखी कि अकाल राहत कार्य और मजदूरों को दिये जाने वाला वेतन के रिकार्ड को सबके समक्ष रखा जाए।

यह मांग राजस्थान के एक अत्यन्त पिछड़े क्षेत्र भीम तहसील में सबसे पहले उठाई गई। इस मांग के अन्तर्गत ग्रामीणों ने प्रशासन से अपने वेतन और भुगतान के बिल उपलब्ध कराने के लिए कहा। क्योंकि उनका कहना था कि उन्हें राहत राशि या वेतन, पारिश्रमिक का पूरा पैसा नहीं दिया जाता और उन्हें उनके वैध देय से वंचित रखा जाता है।

उनका कहना था कि स्कूलों, अस्पतालों, छोटे बांध के निर्माण कार्य तथा अन्य विकास कार्यों में धन का अत्यधिक घपला है और मजदूरों को पूरी मजदूरी नहीं मिलती है तथा फर्जी बिलों के माध्यम से भुगतान की गई राशि सरकारी कर्मचारियों ने अपनी जेब में डाल ली है। अतः उन्होंने बिलों के विवरण की भी सार्वजनिक जानकारी दिये जाने की मांग रखी। संगठन ने मजदूरों को जागृत किया और सरकार से मांग की कि सार्वजनिक सुनवाई भी की जाए। यह आंदोलन जनाधार पकड़ने लगा। संगठन ने



1994 में फिर 1996 में जन सुनवाई का आयोजन किया।

इस आंदोलन के दबाव में राजस्थान सरकार को पंचायती राज कानून में संशोधन करना पड़ा और नए कानून के तहत जनता को पंचायत के दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतिलिपि प्राप्त करने की अनुमति मिल

गई। संशोधन के बाद पंचायतों के लिए बजट, लेखा, खर्च, नीतियों और लाभार्थियों के बारे में सार्वजनिक घोषणा करना अनिवार्य कर दिया गया। अब पंचायतों को इन मदों के बारे में नोटिस बोर्ड या अखबारों में सूचना देनी होती है।

इससे उत्साहित होकर सूचना के अधिकार की मांग राष्ट्रीय स्तर पर भी उठाई गई। कई संगठनों ने जनता के इस अधिकार को महत्वपूर्ण बताते हुए प्रशासन में पारदर्शिता लाने के लिए जनसाधारण के सशक्तिकरण के लिए इसकी मांग की। कंज्यूमर एज्यूकेशन एण्ड रिसर्च सेक्टर, भारतीय प्रेस परिषद् तथा शौरी समिति ने सूचना के अधिकार के बारे में एक प्रस्ताव तैयार किया था जिसके आधार पर 2002 में 'सूचना की स्वतंत्रता' नाम का एक विधेयक पारित हुआ था। यह एक कमजोर अधिनियम था और इसे अमल में नहीं लाया गया। सन् 2004 में लोकसभा का चुनाव हुआ और केन्द्र में सत्ता परिवर्तन हुआ। नई सरकार ने नए सिरे से सूचना के अधिकार का बिल संसद में प्रस्तुत किया। 2005 में इसे राष्ट्रपति से स्वीकृति मिली और उसे 12 अक्टूबर 2005 को लागू किया गया।

साभार : ncert



सूचना का अधिकार अधिनियम का अर्थ

भारत के सूचना के अधिकार अधिनियम, 2005 अनुच्छेद 2(जे.) के अनुसार सूचना के अधिकार का अर्थ किसी लोक प्राधिकारी से किसी भी व्यक्ति द्वारा मांगी गयी सूचना पाने का अधिकार और जिसमें निम्नलिखित अधिकार शामिल हैं जैसे— 1. कार्यो, दस्तावेजों, अभिलेखों का निरीक्षण करना, 2. दस्तावेजों या अभिलेखों की प्रमाणित प्रतिलिपियां लेना, 3. सामग्री के प्रमाणित नमूने लेना, 4. यदि सूचना कम्प्यूटर या अन्य तरीके से रखी गयी है तो डिस्क, फ्लॉपी, टेप, वीडियो कैसेट या अन्य इलेक्ट्रॉनिक माध्यम या प्रिंट आउट के रूप में सूचना प्राप्त करना आदि।

ताड़ी विरोधी आंदोलन



ताड़ी विरोधी आंदोलन महिला आंदोलन का एक हिस्सा बन गया। इससे पहले घरेलू हिंसा, दहेज प्रथा, कार्यस्थल एवं सार्वजनिक स्थानों पर यौन उत्पीड़न के खिलाफ काम करने वाले महिला समूह आमतौर पर शहरी मध्यमवर्गीय महिलाओं के बीच ही सक्रिय थे और यह बात पूरे देश पर भी लागू होती थी।

आंध्र प्रदेश के नेल्लौर जिले के एक दूर-दराज के गांव दुबरगंटा में 1990 के शुरूआती दौर में महिलाओं के बीच प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम चलाया गया जिसमें महिलाओं ने बड़ी संख्या में पंजीकरण कराया। कक्षाओं में महिलाएँ घर के पुरुषों द्वारा देशी शराब, ताड़ी आदि पीने की शिकायतें करती थी। ग्रामीण पुरुषों को शराब की गहरी लत लग चुकी थी इसके चलते वे शारीरिक व मानसिक रूप से कमजोर हो चुके थे। शराबखोरी से क्षेत्र की ग्रामीण अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हो रही थी, शराबखोरी के बढ़ने से कर्ज का बोझ बढ़ता जा रहा था। पुरुष अपने काम से गैर हाजिर रहने लगे। शराब के ठेकेदार मदिरा व्यापार पर एकाधिकार बनाये रखने के लिए अपराधों में व्यस्त थे। शराबखोरी से सबसे ज्यादा दिक्कत महिलाओं को हो रही थी। इससे परिवार की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी। परिवार में तनाव और मारपीट का माहौल बनने लगा।

नेल्लौर में महिलाएँ ताड़ी की बिक्री के खिलाफ आगे आई और उन्होंने शराब की दुकानों को बंद कराने के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया। यह खबर तेजी से पूरे इलाके में फैल गयी और करीब 5000 गांवों की महिलाओं ने आंदोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। प्रतिबंध संबंधी एक प्रस्ताव को पास कर इसे जिला कलेक्टर को भेजा गया। इस तरह के विरोध को देखते हुए नेल्लौर जिले में ताड़ी की नीलामी 17 बार रद्द हुई। नेल्लौर जिले का यह आंदोलन धीरे-धीरे पूरे राज्य में फैल गया।

ताड़ी विरोधी आंदोलन के उद्देश्य

1. महिलाओं का शारीरिक व मानसिक शोषण रोकना।
2. पुरुषों में शराब की आदत छुड़ाना।
3. आर्थिक स्थिति में सुधार करना।
4. महिलाओं में शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना।
5. बेरोजगारी को दूर करना।
6. राजनीति-अपराध के बीच के सम्बन्ध को समाप्त करना।

7. लैंगिक असमानता को दूर करना।

आंदोलन की कड़ियाँ

ताड़ी विरोधी आंदोलन का नारा था—“ताड़ी की बिक्री बंद करो” लेकिन इस साधारण नारे ने क्षेत्र के व्यापक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों तथा महिलाओं के जीवन को प्रभावित किया। ताड़ी व्यवसाय को लेकर अपराध और राजनीति के बीच एक गहरा नाता बन गया था।

राज्य सरकार को ताड़ी की बिक्री से काफी राजस्व की प्राप्ति होती थी इसलिए वह इस पर प्रतिबंध नहीं लगा रही थी। स्थानीय महिलाओं के समूहों ने इस जटिल मुद्दे को अपने आंदोलन में उठाना शुरू किया। वे घरेलू हिंसा के मुद्दे पर भी खुले तौर पर चर्चा करने लगीं। आंदोलन ने पहली बार महिलाओं को घरेलू हिंसा जैसे निजी मुद्दों पर बोलने का मौका दिया।

इस तरह ताड़ी विरोधी आंदोलन महिला आंदोलन का एक हिस्सा बन गया। इससे पहले घरेलू हिंसा, दहेज प्रथा, कार्यस्थल एवं सार्वजनिक स्थानों पर यौन उत्पीड़न के खिलाफ काम करने वाले महिला समूह आमतौर पर शहरी मध्यमवर्गीय महिलाओं के बीच ही सक्रिय थे और यह बात पूरे देश पर भी लागू होती थी लेकिन धीरे-धीरे इस तरह के अभियानों से महिलाओं के मुद्दों के प्रति समाज में व्यापक जागरूकता पैदा हुई।

भारत सरकार द्वारा महिलाओं की स्थिति को और सुदृढ़ करने के लिए भारतीय संविधान के 73वें और 74वें संविधान संशोधन 1992-93 के अन्तर्गत स्थानीय निकायों में महिलाओं को आरक्षण की व्यवस्था भी की गयी है। इस प्रकार की व्यवस्था को राज्यों की विधानसभाओं तथा संसद में भी लागू करने की मांग की जा रही है। संसद में इस आशय का एक संशोधन विधेयक भी पेश किया जा चुका है।

साभार : ncert

पेगासस मामला

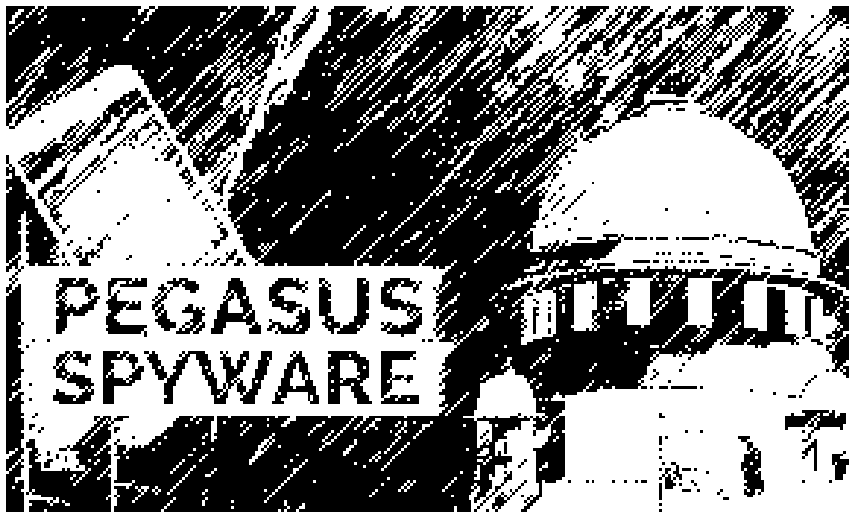
सुप्रीम कोर्ट का निर्णय देश के लोकतंत्र को फिर मज़बूत करने का माद्दा रखता है

एम.के.वेणु

पेगासस जासूसी का मामला एक तरह से मीडिया, सिविल सोसाइटी, न्यायपालिका, विपक्ष और चुनाव आयोग जैसे लोकतांत्रिक संस्थानों पर आखिरी हमले सरीखा था। ऐसे में कोई हैरानी की बात नहीं है कि सुप्रीम कोर्ट के अंतरिम फैसले ने कड़ियों को राहत पहुंचाई, जो हाल के वर्षों में एक अनदेखी बात हो चुकी है।

पेगासस मामले में सुप्रीम कोर्ट के अंतरिम फैसले की व्याख्या सिर्फ कानूनी आधार पर नहीं की जा सकती है। इसके निहितार्थ बहुआयामी हैं। यह फैसला घुटन में जी रहे एक लोकतंत्र के लिए हवा के ताजे झोंके के समान है।

पेगासस विवाद एक ऐसे समय में सामने आया जब अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर चिंताएं गहरा रही थीं, चाहे सामाजिक कार्यकर्ताओं और मीडियाकर्मियों पर लगाए गए अनेक राजद्रोह और आपराधिक मामले हों, लोकतांत्रिक विरोध का गला घोटने की कोशिशें हों या ऑनलाइन न्यूज मीडिया पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के इरादे से इनफॉर्मेशन टेक्नोलॉजी कानून में पिछले दरवाजे से किया गया दमनकारी संशोधन। पेगासस जासूसी का मामला एक तरह से मीडिया, सिविल



सोसाइटी, न्यायपालिका, विपक्ष और चुनाव आयोग जैसे लोकतांत्रिक संस्थानों पर आखिरी हमले सरीखा था। ऐसे में कोई हैरानी की बात नहीं है कि सुप्रीम कोर्ट के अंतरिम फैसले ने कड़ियों को राहत पहुंचाई, जो हाल के वर्षों में एक अनदेखी बात हो गई है।

कुछ वरिष्ठ वकीलों ने कोर्ट के फैसले का स्वागत करते हुए इसे 'ऐतिहासिक' और 'वॉटरशेड' जैसे विशेषणों से नवाजा। इसे प्रथमदृष्टया मोदी सरकार पर आरोपपत्र की स्वीकृति के तौर पर देखा गया। आम नागरिकों के लिए भी यह कोई कम राहत की बात नहीं थी।

द हिंदू अखबार के पूर्व चेयरमैन और पेगासस मामले के एक याचिकाकर्ता एन। राम ने इसे आजाद अभिव्यक्ति और खोजी पत्रकारिता के पक्ष में बड़ी जीत बताया। पेगासस मामले की जांच करने के लिए

तीन सदस्यीय समिति का गठन करने के अंतरिम आदेश ने इतनी आश्चर्यचकित इसलिए भी जगाई क्योंकि सिविल सोसाइटी, सुप्रीम कोर्ट से अपने नये मुख्य न्यायाधीश के नेतृत्व में मोदी सरकार को एक उचित संदेश दिए जाने का इंतजार कर रहा था। इस अंतरिम आदेश के साथ एक तरह से कोर्ट ने इस मनोवैज्ञानिक जरूरत को पूरा करने का काम किया, हालांकि ऐसा धीरे-धीरे किस्तों में ही हो सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के आदेश और इसके सतर्कता के साथ तैयार किए गए नैरेटिव में छिपा हुआ संदेश इसकी शुद्ध कानूनी व्याख्या से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस आदेश ने यह साफ कर दिया है कि निजता और मुक्त अभिव्यक्ति ऐसे संवैधानिक मूल्य हैं जिनकी बलि राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर नहीं चढ़ाई जा सकती है। इस आदेश का यह साफ संदेश है कि इन मूल्यों की सर्वोच्चता के साथ कोई समझौता नहीं किया जा सकता है।

एक बेहद प्रतिष्ठित जज की अध्यक्षता में गठित की गई तीन सदस्यीय समिति को दिया गया दायित्व और अधिकार अपने आप में एक अन्य मजबूत संदेश है। कुछ संशयवादियों का कहना है कि सरकार इस समिति के रास्ते में उसी तरह से रुकावटें डालने का काम करेगी, जैसे इसने मुख्य न्यायाधीश के नेतृत्व वाली पीठ के साथ पहले किया था।

अगर ऐसा होता भी है, तो भी जस्टिस रवींद्रन को सच सामने लाने के लिए भारत और विदेश से विशेषज्ञों को बुलाने का पर्याप्त अधिकार दिया गया है। उन्हें जांच करने का अधिकार दिया गया है और पेगासस जासूसी की जांच करने में मदद के लिए वे सरकार के मोहताज नहीं हैं।

मिसाल के लिए, जस्टिस रवींद्रन समिति पूर्व इंटेलिजेंस अधिकारियों को पेश होने का समन भेज सकते हैं और उनसे सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए गए अधिकार के तहत सूचनाएं मांग सकते हैं। अगर पेगासस के इस्तेमाल से परिचित शीर्ष सेवानिवृत्त अधिकारी चुप रहने का फैसला करते हैं और इसके अस्तित्व को नकारते नहीं हैं, तो यह तथ्य भी एक निश्चित दिशा में इशारा करेगा। दरअसल, जब पूरी जांच होती है, तब कई तरह की संभावनाएं बनती हैं।

महत्वपूर्ण तरीके से सुप्रीम कोर्ट का फैसला समिति से 2019 की उस घटना की भी जांच करने के लिए कहता है, जब कई पत्रकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के वॉट्सऐप खाते में पेगासस का इस्तेमाल करके सेंधमारी की

गई थी। सरकारी अधिकारी ने आधिकारिक तौर पर इसे स्वीकार किया था और वॉट्सऐप को इसके बारे में सूचित किया था, जिसने इस दिशा में अपनी तरफ से कार्रवाई की थी।

लेकिन सरकार ने निजता और मुक्त अभिव्यक्ति पर ऐसे हमले को लेकर अपनी जांच नहीं शुरू की। यहां तक कि इसने इजरायली कंपनी एनएसओ ग्रुप को भी इस संबंध में ज्यादा जानकारी देने के लिए तलब नहीं किया। यह सरकार द्वारा जानबूझकर बरती गई उदासीनता को दिखाता है।

यहां तक कि वर्तमान मामले में भी नरेंद्र मोदी सरकार दुनिया की एकमात्र सरकार है, जो पेगासस के इस्तेमाल को लेकर पूरी तरह से नकार की मुद्रा में है, जबकि कई पश्चिमी सरकारों ने न सिर्फ पेगासस के इस्तेमाल को स्वीकार किया है, बल्कि इजरायली कंपनी से स्पष्टीकरण भी मांगा है।

सुप्रीम कोर्ट के फैसले में इस मामले की जांच के लिए मजबूर करने वाले कारण के तौर पर विदेशी मुल्कों द्वारा जाहिर की गई चिंताओं के साथ-साथ भारत द्वारा इस मामले का 'अस्पष्ट और अनेक जबानों में इनकार' का भी हवाला दिया है।

जस्टिस रवींद्रन कनाडा के सिटिजन लैब को भी आमंत्रित कर सकते हैं, जिसकी तकनीकी मदद ने वॉट्सऐप को 2019 के पेगासस जासूसी मामले में कैलिफोर्निया में एनएसओ समूह के खिलाफ केस दायर करने में मदद की है। अमेरिकी अदालत ने एनएसओ के इस दावे को खारिज कर दिया कि एक इजरायली कंपनी विदेशी न्यायालय के क्षेत्राधिकार में नहीं आता है। अमेरिकी अधिकारक्षेत्र का दावा इस आधार पर किया गया कि यह जासूसी स्थानीय निजता और डेटा प्रोटेक्शन कानूनों के उल्लंघन है।

अहम तरीके से सुप्रीम कोर्ट की समिति निजता के उल्लंघन को रोकने और डेटा सुरक्षा के लिए वर्तमान कानूनी ढांचे पर भी विचार करेगी। इसे संसद इस संबंध में व्यापक कानून न बनने तक नागरिकों की निजता की रक्षा के लिए अंतरिम कानूनी सिफारिशें करने के लिए कहा गया है।

यह भी निजता और मुक्त अभिव्यक्ति की रक्षा की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम होगा। कुल मिलाकर यह समिति विभिन्न आयामों को समेटने वाली विस्तृत सिफारिश कर सकती है, जिस पर सुप्रीम कोर्ट अपने अंतिम निर्णय के दौरान विचार कर सकता है। इस मामले में आशावादी होने की काफी गुंजाइश है।

आज़ादी के बाद सात दशकों में डाक टिकट पर कैसे नज़र आए बापू

अंकिता पाण्डेय

*अस्सी के दशक तक गांधी की डाक यात्रा में कस्तूरबा के अलावा
जवाहरलाल नेहरू ही दिखे। लेकिन 2015 से गांधी की लम्बी डाक यात्रा में एक नया अध्याय
बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ और स्वच्छ भारत अभियान को जोड़ा गया।*

आजादी के सात दशकों में गांधी की डाक यात्रा कैसी रही। कहां-कहां गांधी को कैसे जोड़ा गया। 2015 में गांधी को बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ और स्वच्छ भारत अभियान से जोड़कर नये रूप में प्रस्तुत किया गया। गांधी के इस सफर में बा तो साथ थी हीं साथ में नेहरू, आजादी का आंदोलन, और उनके संदेश डाक टिकटों में प्रमुखता के साथ दिखे। गांधी पर निकाले गए टिकटों में एक तरफ चरखे ने सबसे ज्यादा जगह पाई तो दूसरी ओर उनका पसंदीदा भजन 'रघुपति राघव राजा राम' और उनकी विभिन्न छवियों को भी स्थान मिला।

आजाद भारत में महात्मा गांधी पहले भारतीय थे जिन पर डाक-टिकट जारी हुआ। स्वतंत्रता की पहली वर्षगांठ पर गांधी पर डेढ़ आने, साढ़े तीन आने, बारह आने और दस रुपये के चार टिकट निकाले गये। इन पर हिंदी और उर्दू में 'बापू' लिखा था। दस रुपये वाला टिकट खासतौर से संग्रहकर्ताओं के आकर्षण का केंद्र रहा है।

1969 में गांधी की जन्मशताब्दी के अवसर पर डाक विभाग ने उन पर चार टिकट जारी किये जिनमें से एक में 'बा-बापू' साथ में हैं।

हाल ही में भारतीय डाक ने गांधी की ओड़िशा की प्रथम यात्रा के सौ वर्ष पूरे होने पर 23 मार्च 2021 को टिकट जारी किया जिसमें सभा में बैठे गांधी और बा के सरल रूप का बहुत ही आकर्षक चित्रण हुआ है।

अभी तक 151 देश गांधी पर डाक-टिकट जारी कर चुके हैं। भारतीय डाक विभाग ने इन सात दशकों में गांधी पर दस नियत टिकट निकाले हैं। इसके अलावा लगभग 85 स्मारक डाक-टिकटों पर गांधी और उनका सन्देश देखने को मिलता है। नियत टिकट आम उपयोग के लिए बड़ी संख्या में छापे जाते हैं जबकि

स्मारक टिकट सीमित संख्या में विशेष अवसरों पर जारी किये जाते हैं।

1994 तक डाक-टिकटों में गांधी की बहुप्रचलित वृद्ध छवि ही मिलती है। युवा गांधी पहली बार 1995 में भारत-दक्षिण अफ्रीका सहयोग पर टिकट में दिखे। यह गांधी पर जारी हुई पहली मिनिएचर शीट (लघुचित्र पत्र) भी थी। इसके बाद 1998 में पुण्यतिथि की पचासवीं वर्षगांठ पर चार टिकट का सी-टेनेंट निकाला गया जिसमें एक पर गुजराती पगड़ी पहने युवा गांधी दिखाई दिये। सी-टेनेंट में दो या अधिक टिकटों पर एक चित्र प्रस्तुत किया जाता है। 2007 में दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह पर निकाले गये टिकट पर एक बार फिर युवा गांधी देखने को मिले।

1950 में गणतंत्र की स्थापना के उपलक्ष्य में जारी चार टिकटों में एक पर चरखा तथा दूसरे पर गांधी का प्रिय भजन 'रघुपति राघव राजा राम' अंकित था। इसके बाद एक लम्बे समय तक टिकटों पर गांधी का सन्देश सत्याग्रह और चरखे तक सीमित रहा। लेकिन इस बीच में पोस्टकार्ड और अन्तर्देशीय पत्र पर छपे आदर्श वाक्यों एवं टिकटों के विरूपण के जरिये उनके विचार लोगों तक पहुंचते रहे।

पहली बार 1986 में भारतीय पुलिस की 125वीं जयंती के प्रथम दिवस आवरण पर गांधी की 21 अगस्त 1947 की एक प्रार्थना सभा के अंश उद्धृत किये गये। इसमें पुलिस को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के अपने कर्तव्य निभाने की सलाह है। इसके बाद 1994 में खुदाबख्श ओरिएंटल पब्लिक लाईब्रेरी के प्रथम दिवस आवरण पर भी उनकी चिट्ठी के कुछ अंश उद्धृत हुए। किन्तु डाक-टिकट पर उनका सन्देश पहली बार 1994 में उनकी 125वीं जयंती पर दिखा।

गांधी के साथ नेहरू का सफर

अस्सी के दशक तक गांधी की डाक यात्रा में कस्तूरबा के अलावा जवाहरलाल नेहरू ही दिखे। 1967 में भारत छोड़ो आन्दोलन और 1969 में गांधी की जन्म शताब्दी टिकटों की विवरणिका में गांधी के साथ नेहरू को जगह मिली। टिकटों पर भी कस्तूरबा के बाद सबसे पहले नेहरू ही गांधी के साथ आये। 1973 में स्वतंत्रता संग्राम की पच्चीसवीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में 'गांधी और नेहरू' पर डाक-टिकट जारी हुआ जिसकी विवरणिका में उन्हें गंगा-यमुना की उपमा दी गई। दस वर्ष बाद 1983 में एक बार फिर से नेहरू और गांधी साथ-साथ 'भारत का स्वाधीनता संग्राम' पर जारी टिकट में दिखे।

गांधी की डाक यात्रा में पहला बड़ा बदलाव जनता पार्टी की सरकार के समय आया। 1978 में चार्ली चैपलिन (16 अप्रैल) और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (10 दिसम्बर) के प्रथम दिवस आवरण पर उन्हें गांधी के साथ दिखाया गया। इसके बाद 1985 में जयरामदास दौलतराम के प्रथम दिवस आवरण पर गांधी के साथ खड़े उनके सहयोगियों की तस्वीर है। इसके कुछ पंद्रह वर्ष बाद गांधी अन्य लोगों के प्रथम दिवस आवरण पर दिखना शुरू हुए। 1999 में डॉ. के.ब. हेडगेवार के प्रथम दिवस आवरण पर उनके साथ गांधी की तस्वीर है। इस दौरान राष्ट्रीय बचत संगठन की स्वर्ण जयंती (1998), भारत का स्वतंत्रता संग्राम (1999), द हिंदुस्तान टाइम्स (1999), पश्चिमी रेलवे भवन (1999), और रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की प्लैटिनम जयंती (2010) के प्रथम दिवस आवरण पर भी गांधी दिखे।

गांधी की डाक यात्रा के इस काल खंड का सबसे यादगार टिकट भारतीय गणतंत्र के पचास वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में जारी किया गया। इस पर प्रसिद्ध चित्रकार रंगा का बनाया गांधी का अद्भुत रेखाचित्र है जो उन्हें भारत के नक्शे की तरह प्रस्तुत करता है। यह पहला अवसर था जब गांधी पर जारी किये गये टिकट के प्रथम दिवस आवरण पर किसी और व्यक्तित्व को चित्रित किया गया। इस आवरण पर डॉ. भीमराव आम्बेडकर और उनके पार्श्व में संविधान की प्रस्तावना दिखाई गई है। साथ ही में यह एकमात्र डाक-टिकट है जिस पर गांधी को 'राष्ट्रपिता' कह कर संबोधित किया गया है। इसके बाद 2001 में दो टिकट के सी-टेनेंट पर उन्हें सहस्राब्दी पुरुष की संज्ञा दी गई।

सन् 2000 में ही दूसरा बड़ा बदलाव आया जब गांधी नेहरू के अलावा किसी अन्य गांधीवादी नेता के टिकट पर दिखे। स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर जारी बिहार के दलित नेता जगलाल चौधरी के टिकट की पृष्ठभूमि में गांधी हैं। इसके बाद 2009 में रामचरण अग्रवाल और 2019 में आयुष चिकित्सक दिनशां मेहता

के टिकट की पृष्ठभूमि में भी गांधी दिखते हैं।

बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ और स्वच्छ भारत अभियान से शुरू हुआ नया दौर

2015 से गांधी की लम्बी डाक यात्रा में एक नया अध्याय जुड़ गया। इसमें बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ और स्वच्छ भारत अभियान को गांधी से जोड़ा गया।

इसके पहले गांधी को 1979 में अन्तराष्ट्रीय बाल वर्ष पर बच्चे के साथ और 2008 में मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा के 60 वर्ष पूरे होने पर अब्राहम लिंकन, मार्टिन लूथर किंग और मदर टेरेसा के साथ प्रस्तुत किया गया था।

लेकिन इस बार भारतीय डाक विभाग ने गांधी के चश्मे को स्वच्छ भारत के प्रतीक स्वरूप हर प्रथम दिवस आवरण का हिस्सा बना दिया। गौरतलब है कि गांधी से जुड़े लगभग आधे यानि कि 85 में से 41 टिकट इस दौरान जारी हुए।

हिंदी के प्रसार में गांधी की भूमिका को 2017 में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा शताब्दी पर टिकट में रेखांकित किया गया। इसी प्रकार उनकी 150वीं जयंती पर 2018 में पहली बार जारी हुए वृत्ताकार डाक-टिकटों पर अहिंसा, स्वच्छता, अस्पृश्यता, सेवा, शांति, क्षमा, सादगी और सत्य पर गांधी के सन्देश हिंदी में थे। इसके पूर्व टिकटों पर उनके सन्देश या तो अंग्रेजी में या फिर अंग्रेजी और हिंदी दोनों में प्रस्तुत किये गये थे। खास बात यह भी थी कि इसकी विवरणिका में गांधी का नाम नौ भारतीय भाषाओं में लिखा हुआ था।

150वीं जयंती के उपलक्ष्य में ही 2019 में पहली बार जारी हुए अष्टकोणीय डाक-टिकटों के जरिये गांधी के बचपन से महात्मा तक का सफर प्रस्तुत हुआ। इनमें उनके तीन बन्दरों के अलावा उनका बाल, किशोर और गांधी टोपी वाले रूप भी पहली बार डाक टिकटों पर देखने को मिले।

कस्तूरबा भी अपने युवा रूप में पहली बार 2015 में दक्षिण अफ्रीका से लौटने के सौ वर्ष पूरे होने पर जारी टिकट में नजर आयी। इसके बाद 2017 में चंपारण सत्याग्रह की शताब्दी पर और 2019 में अष्टकोणीय टिकट पर उनकी युवा तस्वीर दिखी। 2020 में एक बार फिर से गांधी के विशाल व्यक्तित्व के कुछ अनछुए पहलुओं को प्रस्तुत किया गया। इनमें स्वास्थ्य और प्राकृतिक चिकित्सा, शिक्षा में प्रयोग, नई तालीम, पारिस्थितिकी और पर्यावरण की आवश्यकता तथा चरखे के माध्यम से आत्मनिर्भरता लाने का सन्देश परिलक्षित हुआ। लेकिन विविधताओं से भरी गांधी की इस डाक यात्रा में सांप्रदायिक सौहार्द पर उनका सन्देश जिस पर 1948 की विवरणिका में काफी जोर था कहीं गुम हो गया।

सभर : <https://hindi.theprint.in/>

‘लोगो’ तो है पर लोग कहाँ हैं ?

अव्यक्त

महात्मा गांधी की जयंती के प्रतीकात्मक छलावों में उनकी लाठी, चश्मा, चरखा, घड़ी और खड़ाऊं भले ही दिख जाएं, लेकिन उनके सपनों का भारत नहीं दिखता।

गांधीजी की हत्या के बाद जब लोग राजघाट से उनकी राख चुटकी-चुटकी भर समेटकर ले जा चुके थे और भारत का लगभग हर वर्ग खुद को अनाथ समझ रहा था, तो उसके केवल छह हफ्ते बाद सेवाग्राम में गांधीजी के लगभग सभी प्रमुख सहयोगी इकट्ठा हुए। 11 मार्च से 15 मार्च, 1948 यानी पांच दिनों तक नेहरू, विनोबा, कृपलानी, कुमारप्पा, जेपी, मौलाना आजाद, डॉ. जाकिर हुसैन, तुकडोजी महाराज, आर्यनायकम् दंपति, दादा धर्माधिकारी, काका कालेलकर और मृदुला साराभाई जैसे 47 लोग एक साथ बैठकर इस पर चर्चा करते रहे कि आगे देश में क्या-कैसे हो। सरदार पटेल अपनी अस्वस्थता के चलते और राजगोपालाचारी, सरोजिनी नायडू, आचार्य नरेन्द्र देव और डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे गांधीजी के सहयोगी अलग-अलग कारणों से इस बैठक में भाग नहीं ले सके थे। इन बैठकों की अध्यक्षता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने की थी। गांधीजी के अधूरे काम को आगे कैसे बढ़ाया जाए इस पर सबने खुलकर अपनी बात रखी थी। बाद में इनमें से कई लोगों ने अपनी-

अपनी तरह से गांधीजी के अधूरे काम को आगे बढ़ाने की कोशिश भी की।



गांधीजी की जन्मशती यानी साल 1969 तक इनमें से कई लोग जीवित थे। हालांकि पटेल, नेहरू और लोहिया इस दुनिया में नहीं रहे थे। लेकिन बाकी बुढ़ाते गांधीजनों के लिए सबसे दुःख की बात यह थी कि दो अक्टूबर, 1969 को जब एक तरफ गांधीजी की जन्म शताब्दी मनाई जा रही थी, तो दूसरी तरफ गुजरात के अहमदाबाद में भयानक सांप्रदायिक दंगे हो रहे थे। मरने वालों का आधिकारिक आंकड़ा करीब 700 का था। वही अहमदाबाद जहां साबरमती के किनारे गांधीजी ने अपना आश्रम बनाया था। और वही क्रौमी एकता का मसला जिसको लेकर गांधीजी को अपनी जान गंवानी पड़ी थी, एक बार फिर से गुजरात में धधक रहा था।

संयोग से गांधीजी के सबसे प्रिय सहयोगियों में से एक रहे खान अब्दुल गफ्फार खान, जिन्हें हम बादशाह खान और सीमांत गांधी के नाम से भी जानते हैं, उन्होंने गांधीजी की भांति ही दंगा प्रभावित क्षेत्रों में जाने का फैसला किया। वहां बेधड़क जाकर उन्होंने पीड़ितों को सांत्वना दी। आक्रमणकारियों को समझाने का काम किया। इसके बाद जब वे

सेवाग्राम आश्रम पहुंचे तो उनका स्वागत करने के लिए विनोबा एक दिन पहले ही वहां पहुंच गए थे। शाम की प्रार्थना में दोनों साथ-साथ गए। और गांधीजी के शताब्दी वर्ष में भारत में मचे हिंसा के तांडव और सांप्रदायिक उपद्रवों पर घंटों बातचीत करते रहे। इस चर्चा में जयप्रकाश नारायण भी मौजूद थे। 8 नवंबर, 1969 को तीनों ने मिलकर एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें कार्यकर्ताओं से अनुरोध किया गया कि 'वे आगे आएँ और जनता की सेवा द्वारा और जनता की शक्ति को संगठित करके देश की बिगड़ी हालत का मुकाबला करें।' उन बुढ़ते गांधीमार्गियों का इतना असर तो जरूर हुआ था कि दंगों पर शांतिपूर्ण तरीकों से काबू पा लिया गया।

गांधीजी ने कई अवसरों पर कहा था कि वे 125 साल जीना चाहते हैं। पहली बार उन्होंने यह बात 8 अगस्त, 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में कही थी। उनके शब्द थे, 'दोस्तों मेरा विश्वास करो। मैं मरने के लिए कतई उत्सुक नहीं हूँ। मैं अपनी पूरी आयु जीना चाहता हूँ। और मेरे विचार से वह आयु कम-से-कम 120 साल है। उस समय तक भारत स्वतंत्र हो जाएगा और संसार स्वतंत्र हो जाएगा। मैं आपको यह भी बता दूँ कि मैं इस दृष्टि से इंग्लैंड या अमेरिका को भी स्वतंत्र देश नहीं मानता। ये अपने ढंग से स्वतंत्र देश हैं। ये पृथ्वी की अश्वेत जातियों को दासता के पाश में बांधे रखने के लिए स्वतंत्र हैं। 'आप स्वतंत्रता की मेरी परिकल्पना को सीमित न करें।'

लेकिन वही गांधी अपनी मृत्यु से लगभग दो महीने पहले 2 दिसंबर, 1947 को पानीपत की एक सभा में कहते हैं, 'आप चाहें तो एक अनुभवी बूढ़े आदमी की बात को सुन सकते हैं, क्योंकि आज मेरी आवाज़ नक्कारखाने में तूती की तरह हो गई है। 'आज मुझमें जीते रहने की इच्छा और इसका उत्साह नहीं है। एक समय था जब मैं 125 साल जीना चाहता था और रामराज्य लाना चाहता था। लेकिन यदि मुझे आपका सहयोग ही नहीं मिला तो मैं अकेले क्या कर सकता हूँ?'

वैसे अगर गांधी 125 साल सचमुच जी जाते तो देख पाते कि उन्हीं की प्रेरणा से अमेरिका में मार्टिन लूथर किंग जूनियर अश्वेतों के लिए नागरिक अधिकार आंदोलन अहिंसक रूप से चलाते हैं और उनकी जीत होती है। गांधी यह भी देख पाते कि किस तरह ठीक उसी साल जिस साल वे 125 साल के होते, यानी 1994 में दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद का अंत होता है और उसके नायक नेल्सन मंडेला गांधी को अपना आदर्श बताते हैं।

लेकिन उन्हीं वर्षों में गांधी भारत में क्या देखते? वे देखते कि किस तरह 1992 में कौमी एकता को तार-तार कर देने का संगठित बहुसंख्यकवादी प्रयास होता है। 1993 में केंद्र की एक अल्पमत सरकार पर सांसदों की खरीद-फरोख्त कर बहुमत हासिल करने का इल्जाम लगता है। 1994 में भारत अपनी पृथ्वी मिसाइल को दुनिया के सामने रखकर इस उपमहाद्वीप में और पूरी दुनिया में हथियारों की होड़ में शामिल होता है। अगले साल 1995 में भारत विश्व व्यापार संगठन का हिस्सा बनकर विकसित देशों की व्यापारिक रणनीति का शिकार होता है और कई प्रकार की नीतिगत स्वतंत्रता खो बैठता है। उदारीकरण की प्रक्रिया अपनाकर श्रम और श्रमिक विरोधी नीतियां लागू करने पर विवश होता है। गांधीजी 125 वर्ष जीते तो यही सब देखते न?

आज हम उनकी 152वीं जयंती मना रहे हैं। लेकिन याद रहे कि यह उनकी हत्या का 73वां साल भी है। विनोबा, लोहिया और जेपी के बाद दूर-दूर तक हमें अब गांधी-विचार परंपरा का कोई भी ऐसा अहिंसक नेतृत्व नजर नहीं आता, जो सत्याग्रह और स्वराज को सही मायनों में समझता हो और इसके लिए राष्ट्रव्यापी संघर्ष छेड़ने की सर्वस्वीकार्यता रखता हो। और जो लोग स्वराज का वास्तविक अर्थ समझते भी हैं या ज़मीनी स्तर पर संघर्ष भी कर रहे हैं, वे या तो हाशिए पर धकेल दिए गए हैं या फिर पुलिस-तंत्र और फर्जी मुकदमों के द्वारा प्रताड़ित किए जा रहे हैं। इस बीच कुछ नकली गांधी जरूर आए-गए, जिनकी काठ की हांडियां एक ही बार चूल्हे चढ़ सकीं।

ग्राम स्वराज, पंचायती राज, रोजगारमूलक उद्योग, स्वदेशी और कौमी एकता की बात अब झूठ-मूठ भी सुनने में नहीं आती। लाखों की संख्या में किसान आत्महत्या जरूर कर रहे हैं। प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद और फौज का राजनीतिक महिमामंडन अपने चरम पर जरूर है। गोसेवा भूलकर लोग गोरक्षा के नाम पर जब चाहे जिसको मार अवश्य रहे हैं। हां, उनकी स्मृति में इस साल सरकारी प्रचारवादी ताम-झाम और दिखावेबाजी जरूर देखने को मिलेगी जो शायद ही समाज के लिए असरकारी साबित हो पाए। कई जोरदार 'लोगो' (प्रतीक चिन्ह) अवश्य बनाए जाएंगे, जिसमें इस देश के वंचित 'लोग' कहीं प्रतिबिंबित नहीं होंगे। इन प्रतीकात्मक छलावों में गांधीजी की गंजी खोपड़ी, लाठी, चश्मा, चरखा, घड़ी और खड़ाऊं भले ही दिख जाएं, लेकिन गांधी-विचार और गांधी के सपनों का भारत कहीं नहीं दिखेगा।

साभर : <https://www.satyagrah.com/>

एक राजनेता का इतिहास बोध

लाल बहादुर वर्मा

इतिहासबोध यानी इतिहास की समझ, किसी भी व्यक्ति के लिए अपने वर्तमान को समझने और भविष्य को संवारने में विवेक का काम करता है। राजनेताओं के लिए तो उनकी बौद्धिक निर्मिति का यह अनिवार्य अंग होना चाहिए। विडंबना यह है कि इतिहास में विरले राजनेता हुए हैं, जिनके पास इतिहासबोध था।

अंग्रेजी के विश्वविख्यात लेखक शेक्सपीयर के सबसे लोकप्रिय उद्धरणों में से एक है, 'टु बी और नॉट टु बी...' (To be or not to be...) और असमंजस की यह प्रवृत्ति सर्वव्यापी है। प्रबुद्ध जनों में अनिर्णय की यह स्थिति खासतौर से पाई जाती है और घातक सिद्ध होती है। जवाहरलाल नेहरू में भी यह थी। जब कभी वह इससे उबर पाए, तो उनकी मदद उनके इतिहासबोध ने ही की।

जवाहरलाल नेहरू का इतिहासबोध समझना आज इसलिए खासतौर से जरूरी हो गया है, क्योंकि आज इतिहास से छेड़छाड़ की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। राजनेता तात्कालिक लाभ के लिए अतीत की मनमानी व्याख्या करने लगे हैं। वर्तमान की जड़ें अतीत में होती हैं, इसलिए अतीत को पूरी तरह नकारा तो नहीं जा सकता, पर अपने वर्तमान तर्कों को मजबूत करने के लिए अतीत पर मनमाना रंग चढ़ाया जा सकता है। इससे कुछ लोगों को तात्कालिक लाभ भले ही हो जाए, अंततः और सारतः पूरे समाज का नुकसान होता है।

आइए, संक्षेप में इतिहासबोध क्या है? और कैसे उपयोगी हो सकता है? इसे समझ लें। इतिहासबोध, इतिहास नहीं इतिहास का सार-संकलन है, यानी अतीत में क्या, क्यों और कैसे हुआ इसकी जानकारी मात्र नहीं, समझदारी है। इतिहासबोध ही हमें समझाता है कि जैसे पेड़ अपनी जड़ों के ऊपर खड़े होते हैं, उसी तरह वर्तमान में जो भी व्यक्ति और समाज करता है, उसकी जड़ें अतीत में होती हैं। हमारा वर्तमान लगातार अतीत बनता रहता है और भविष्य, वर्तमान बनता रहता है। इसलिए अतीत, वर्तमान और भविष्य अविभाज्य रूप से एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। यह समझ वर्तमान को समझने और भविष्य को संवारने के लिए जरूरी होती है। इतिहासबोध ही बताता है कि इतिहास का विषय संपूर्ण मानव समाज है। इसलिए इतिहास की सही समझ वैश्विक परिप्रेक्ष्य में ही हो सकती है। देश और क्षेत्र या समुदाय के इतिहास अगर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में न समझे जाएं, तो संकीर्ण प्रतिस्पर्धाएं पैदा होती हैं और

मनुष्य की पहचान छोटी होती जाती हैं। सारा इतिहास छोटी-छोटी पहचानों के बीच प्रतिस्पर्धा और संघर्ष का इतिहास है। इस कारण मानव समाज का उतना भला नहीं हो सका, जितना हो सकता था। विख्यात जर्मन दार्शनिक हीगल ने हमें उन्नीसवीं शताब्दी में सावधान किया था कि 'इतिहास का सबसे बड़ा सबक यह है कि हम इतिहास से कोई सबक नहीं लेते।' यानी हम इतिहास जानते तो हैं, समझते नहीं, अपने अंदर इतिहासबोध पैदा नहीं कर पाते।

इतिहास एक तरह से परमाणु ऊर्जा की तरह होता है। उसमें विध्वंस और निर्माण दोनों की अपार शक्ति होती है। इतिहास का गलत इस्तेमाल कर फासीवादी हिटलर ने आर्यों को विश्व की सबसे श्रेष्ठ जाति और जर्मनों को सबसे श्रेष्ठ आर्य बताकर केवल जर्मनों को दुनिया पर राज करने लायक बताया था। ऐसा करने के लिए एक संचालक नेता (जर्मन में फ्यूहरर) आवश्यक है और वह स्वयं जर्मनी का संचालक नेता बन बैठा था, परिणामस्वरूप मानव इतिहास में अब तक का सबसे विध्वंसक युद्ध हुआ और साठ लाख यहूदियों के नरसंहार का अपराध और कलंक दर्ज हो गया। इतिहासबोध ही हमें बताता है कि इतिहास की सही समझ इतनी ऊर्जा और सृजनशीलता का संचार कर सकती है कि मानव समाज का पूरी तरह सृजनात्मक और न्यायसंगत रूपांतरण हो सकता है। इस समझ के लिए जरूरी है कि हम व्यक्ति और समाज की सीमाओं और संभावनाओं को व्यापक (टेलिस्कोपिक) और सूक्ष्म (माइक्रोस्कोपिक) दोनों स्तरों पर देखा-समझा जाए।

ऐसी समझ की जवाहरलाल नेहरू में झलक मिलती है। वे इतिहासकार नहीं, पर इतिहासबोध के लिए इतिहासकार होना जरूरी नहीं। विडंबना तो यही है कि अधिकतर बड़े-बड़े इतिहासकारों में भी इतिहासबोध नहीं होता। जवाहरलाल नेहरू में इतिहासबोध की सैद्धांतिक समझ उनके लेखन में और व्यावहारिक समझ उनकी कुछ नीतियों में दिखाई पड़ती है।

1929 में, एक छोटी-सी किताब छपी, 'पिता के पत्र पुत्री के

नाम 'पिता जवाहरलाल नेहरू ने अपनी दस वर्ष की पुत्री प्रियदर्शिनी (इंदिरा गांधी) को कुछ पत्र लिखकर देश-दुनिया के बारे में बताना शुरू किया था। अंग्रेजी में लिखे गए ये पत्र कितने महत्वपूर्ण रहे होंगे, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इनका अनुवाद प्रेमचंद ने स्वयं किया। इन पत्रों में जवाहरलाल ने अपनी ब्रिटिश को सबसे पहले यही समझाया कि अपने और अपने समाज को सारी दुनिया के एक अंग के रूप में देखना चाहिए। यह दुनिया बहुत बड़ी, विविध और सुंदर है उसमें शामिल होकर रहना। गर्व की बात है कि हमारा अतीत बहुत प्रेरणादायी है, पर हिंदुस्तानी पूरी तरह जीवन का मजा इसलिए नहीं ले पा रहे, क्योंकि भारत पर ब्रिटिश सरकार का राज है, आदि। इस तरह जवाहरलाल ने एक बच्चे को भी समझा दिया कि दुनिया एक इकाई है और भारत उसका अंग है, दुनिया में बहुत विविधता है, जटिलता है, सुंदरता है और यह सब समझने और उसका आनंद उठाने के मार्ग में दासता एक व्यवधान है। यह इतिहासबोध का पहला सबक है कि वह व्यक्ति को विश्व नागरिकता की चेतना से लैस करता है और अपने देश की समस्याओं को भी विश्व परिप्रेक्ष्य में रखकर बेहतर समझदारी पैदा करता है और बेहतर समाधान के उपाय सुझाता है। ऐसी समझदारी संकीर्णताओं से बचा सकती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता के कारण दुनिया विभाजित होती जा रही थी। ऐसे में मानव समाज की एकता पर जोर देने वाले प्रयत्न शुरू हुए और एक प्रमुख पत्रकार एच.जी. वेल्स ने एक बहुत रोचक पुस्तक 'इतिहास की रूप-रेखा' (Outline of History) लिखी, जो आज भी बहुत प्रासंगिक और उल्लेखनीय मानी जाती है। जवाहरलाल नेहरू जैसे बहुत से बौद्धिकों के लिए वेल्स की किताब विश्व इतिहास की पाठ्य-पुस्तक बन गई।

दुनिया के इतिहास में कुछ बहुत महत्वपूर्ण पुस्तकें जेल में लिखी गई हैं। जाहिर है जेल में बहुत कुछ करने को नहीं होता और सृजनशील व्यक्ति अपने एकाकीपन को चिंतन-मनन और लेखन में लगा सकता है। पढ़ने की सुविधा राजनीतिक कैदियों को होती ही है। ऐसे में भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान बहुत सारे राजनीतिक कैदियों ने कुछ-न-कुछ पढ़ा और लिखा। इनमें गांधी और नेहरू का लेखन सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ है। नेहरू ने अपनी तीनों महत्वपूर्ण किताबें जेल में ही लिखीं—1. 'विश्व इतिहास की झलक' (Glimpses of World History), 2. 'आत्मकथा' (An Autobiography), 3. 'भारत एक खोज' (Discovery of India)। इन तीनों में ही ही पुस्तकें हैं।

पहली पुस्तक, जो अपनी बेटी के माध्यम से बच्चों को संबोधित है, वास्तव में इतिहासबोध का अप्रतिम उदाहरण है। जिस

वक्त वे अपनी बेटी को चिट्ठियां लिख रहे थे, जो बाद में किताब के रूप में प्रकाशित हुई, उस वक्त भारत की आजादी की लड़ाई की गहमागहमी सारे देश में व्याप्त थी और स्वतंत्रता संग्राम में शामिल अधिकतर बाप अपने बच्चों में देशभक्ति पैदा करने के लिए अपने देश की महानता के बारे में ही बताते थे। पर नेहरू ने अपनी कहानी मानव सभ्यता के विकास से शुरू की। उन्होंने भारत के अलावा दुनिया की अन्य महत्वपूर्ण सफलताओं के बारे में भी बताया और केवल सकारात्मक बातें ही नहीं सभ्यताओं की सीमाएं भी बताई। प्राचीन काल की यात्रा कराने के बाद धीरे-धीरे वे अपने समकालीन समय में पहुंचते हैं और वहां भी भारत की पराधीनता की चर्चा दुनिया के औपनिवेशिक विस्तार के संदर्भ में और सारी दुनिया में मची हुई उथल-पुथल के साथ करते हैं। वे भारत को दुनिया का सर्वश्रेष्ठ देश साबित करने की कोशिश नहीं करते। अधिकतर देशभक्तों को अपनी देशभक्ति में कमी नजर आती है, अगर वे अपने देश को सबसे महान नहीं साबित कर पाते। नेहरू स्वयं भी इससे बचते रहे और अपने पाठकों को भी इससे बचाते रहे। वे देख-समझ पा रहे थे कि राष्ट्रवाद का अतिरेक कैसे फासीवाद की ओर ले जाता है? और फासीवाद एक बर्बर व्यवस्था है।

दूसरे, उन्होंने इतिहास को महापुरुषों की जीवनी नहीं बनने दिया, जैसा कि अधिकतर राजनीतिक इतिहास बन जाते हैं। उन्होंने हर देश काल में समाज की चालक शक्तियों को चिह्नित किया। निश्चित ही उस वक्त तक वह ऐतिहासिक भौतिकवाद से परिचित हो चुके थे और उनके इतिहास लेखन पर उसका प्रभाव उजागर है।

उनकी आत्मकथा भी व्यक्तिगत जीवन की ही घटनाओं का संकलन नहीं है। उसमें भी देश काल पूरी तरह उपस्थित है और व्यक्तिगत संदर्भ भी समकालीन सामाजिक तथा राजनीतिक संदर्भों में ही लिखे गए हैं। बीच-बीच में देश काल पर लंबी टिप्पणियां और मूल्यांकन हैं। ऐसे में यह पुस्तक इतिहास की पुस्तक भले ही न कही जाए, पर उस समय के इतिहास के लिए एक अनन्य स्रोत हैं।

'भारत एक खोज' तो एक तरह से भारतीय इतिहास पर लिखी गई सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक कही जा सकती है। इसमें भारतीय इतिहास की राह चलकर नेहरू ने अपना भारत खोजा है और यह बताया है कि हर आदमी का अपना-अपना भारत हो सकता है। पर एक सबका भी भारत हो सकता है, भारतीयों का ही नहीं सारी दुनिया का। उस भारत से भारतीय ही नहीं, दूसरे भी उसकी लाक्षणिकताओं के कारण उससे प्रेम कर सकते हैं। साथ ही, दूसरे ही नहीं भारतीय भी उसकी कमियों और सीमाओं पर अंगुली रख सकते हैं।

इस पुस्तक में भारत अपनी समग्रता में मौजूद है। भारत की अर्थव्यवस्था, राजनीतिक प्रणालियां, सामाजिक संरचना और विविध

सांस्कृतिक विशिष्टताएं। पूरी किताब में नेहरू का भारत के प्रति लगाव झलकता है, लेकिन उन्हें राष्ट्रवादी पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं होने देता, जिसकी पूरी संभावना थी। नेहरू पूरी तरह एक आधुनिकतावादी व्यक्ति थे और कई बार उनका मूल्यांकन करते वक्त यह भी कहा जाता रहा है कि वह तो इत्तेफ़ाक से भारतीय थे।

नेहरू के विरोधी उनके विचारों ही नहीं, उनके रहन-सहन को भी विदेशी बताते रहे हैं। पर 'भारत की खोज' नामक पुस्तक में स्पष्ट हो जाता है कि वे भारत के वर्तमान से इसलिए असंतुष्ट थे और विदेशी सत्ता का अंत करना चाहते थे कि भारत का अतीत उन्हें गौरवशाली लगता था। यहीं पर उनका इतिहासबोध झलकता है कि देश से प्रेम अंध देशभक्ति नहीं बनना चाहिए और वह भारतीय समाज की कुरीतियों की निंदा करते हैं और सामंती संकीर्णताओं, जातीय तथा सांप्रदायिक भेदभाव और रूढ़िवादी प्रवृत्तियों का अंत कर एक आधुनिक भारत की रचना करना चाहते हैं।

भारत के कुशल और संवेदनशील फिल्मकार श्याम बेनेगल ने 'भारत की खोज' नामक टी.वी. सीरियल में पुस्तक का सजीव और विश्वसनीय चित्रण किया है। उसे देखने वाले भी महसूस करते हैं कि निश्चित ही जवाहरलाल नेहरू ने ऐसे भारत की खोज कर डाली थी, जो भारत में एक नए राष्ट्र के निर्माण के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रदान करती थी। यहां परंपरा और परिवर्तन के बीच ऐसा द्वंद्व नहीं था कि भारत का आधुनिकीकरण असंभव हो जाए।

नेहरू ने स्वतंत्र भारत के निर्माण का दायित्व संभालने के साथ ही छद्म नाम से स्वयं अपना विश्लेषण किया था। इस लेख में उन्होंने अच्छी तरह चिह्नित किया था कि नेहरू के तानाशाह बन जाने की पूरी संभावना है, पर वह बन नहीं सकते। उन्होंने स्वयं इस बात को चिह्नित नहीं किया था, पर अब उनके इतिहास का मूल्यांकन करते समय कहा जा सकता है कि उनका इतिहासबोध ही उन पर सबसे बड़ा अंकुश था।

अंत में, अगर हम उनके लेखन में परिलक्षित उनके इतिहासबोध की मूल प्रवृत्तियां चिह्नित करना चाहें, तो कह सकते हैं कि

1. वे हमेशा भारतीय इतिहास को विश्व इतिहास के अभिन्न अंग के रूप में देखते थे।
2. मानव सभ्यता का सामान्यीकरण करते समय अलग-अलग सभ्यताओं की विशिष्टताओं को नहीं भूलते थे, इसीलिए भारतीय समाज की भी विशेष उपलब्धियों को ठीक से चिह्नित करते हैं।
3. भारत में राष्ट्रवाद के निर्माण के प्रारंभिक दौर में ही सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने एक ऐतिहासिक पुस्तक लिखी थी 'एक बनता हुआ राष्ट्र' (A Nation in Making) इस पुस्तक में यही चिह्नित किया गया था कि पश्चिमी यूरोप की तरह भारत में

मुख्यतः भाषा पर आधारित कोई आधुनिक राष्ट्र पहले से उपलब्ध नहीं है। असंख्य विविधताओं वाले इस देश में आधुनिक राष्ट्र का निर्माण शुरू किया गया है। अधिकांश राष्ट्रीय नेता इस बात को अक्सर नजरअंदाज करते थे, पर नेहरू में यह एक उत्प्रेरणा और सावधानी के रूप में दिखता है।

4. राष्ट्र निर्माण के दौर में ही रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने बड़े साहस के साथ कहा था—राष्ट्रवाद एक बुराई है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में फासीवाद के प्रादुर्भाव ने राष्ट्रवाद के संकीर्ण, आक्रामक और विध्वंसक बनने की संभावनाओं को अच्छी तरह उजागर कर दिया था। भारत में 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' और 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' जैसी प्रवृत्तियां तेजी से लोकप्रिय होती गई थीं और आज भी हैं। ऐसे में विश्व के सबसे बड़े राष्ट्रीय आंदोलन के सबसे बड़े नेताओं में से एक होने के बावजूद नेहरू का इतिहासबोध उन्हें उत्कट राष्ट्रवादी नहीं होने देता।
5. यूरोप में प्राचीन काल में ही इतिहास लेखन के प्रारंभिक दौर में दो प्रवृत्तियां उजागर हो गई थीं—1. यूनिवर्सल, 2. पॉलिटिकल। हेरोडोट्स को 'यूनिवर्सल हिस्ट्री' का प्रवर्तक और यूरोपीय संदर्भ में 'इतिहास का जनक' कहा जाता है। इस इतिहास का स्वरूप व्यापक और सर्व समावेशी था। इतिहास का यही रूप आज तक सबसे अधिक मान्य रहा है। नेहरू भी इतिहास के प्रति ऐसी ही दृष्टि रखते थे।

आजकल यह कहा जाता है—'इतिहासबोध, इतिहास निर्माण के लिए' यानी इतिहास के सार संकलन से हमें अपना इतिहास रचने की उत्प्रेरणा और ऊर्जा मिलती है। नेहरू के इतिहास लेखन में यह साफ-साफ परिलक्षित होता है।

'कथनी और करनी में एकरूपता' एक बहुत ही लोकप्रिय और प्रचलित मुहावरा है, जिसके आधार पर प्रायः सभी का मूल्यांकन करते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि ऐसी एकरूपता असंभव है। कारण यह है कि कथनी में मनुष्य के आदर्श और सिद्धांत ही नहीं, उसकी सद् इच्छाएं भी शामिल हो जाती हैं, परंतु 'करते समय' यानी व्यवहार में बहुत-सी कठिनाइयां और दबाव झेलने पड़ते हैं। अगर कोई पाखंडी हो और कथनी में बड़ी-बड़ी बातें हांकता हो और करता जान-बूझकर उसका उल्टा हो, तो यह निश्चित ही निंदनीय है। अगर कोई भरसक अपनी कथनी को करनी में रूपांतरित करने का प्रयास कर रहा हो, तो उसकी कठिनाइयों को समझा जाना चाहिए। जवाहरलाल नेहरू अपने इतिहासबोध को पूरी तरह व्यवहार में कार्यान्वित नहीं कर पाए। इसमें उनकी कठिनाइयों के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की

सीमाओं की भी भूमिका थी। प्रधानमंत्री बनने के बाद उनकी दो प्रमुख नीतियों का विश्लेषण उनके इतिहासबोध को रेखांकित कर देता है—1. गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति और 2. नियोजित और मिश्रित अर्थव्यवस्था। आजादी के पहले भी नेहरू को कांग्रेस की विदेश नीति का प्रमुख निर्धारक माना जाता था और वही कांग्रेस का विदेशों में ‘प्रमुख चेहरा’ माने जाते थे। 1947 में, जब भारत आजाद हुआ तब दुनिया शीतयुद्ध से ग्रस्त हो चली थी और अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी तथा सोवियत यूनियन के नेतृत्व में समाजवादी गुट अपना प्रभाव बढ़ाते जा रहे थे। तब तक यह भी स्पष्ट हो चुका था कि नेहरू का सोवियत यूनियन के प्रति प्रशंसा भाव उनकी भारत के कम्युनिस्टों के प्रति नीतियों को नहीं प्रभावित कर रहा था। दूसरी ओर, यह भी स्पष्ट हो चुका था कि वे पश्चिमी जनतंत्रों के प्रशंसक बन चुके हैं। इसलिए अपेक्षा यही थी कि नेहरू पश्चिमी देशों का ही साथ देंगे। आजाद हिंदुस्तान ने ब्रिटेन के पूर्व उपनिवेशों के संगठन ‘कॉमनवेल्थ’ में रहने का निर्णय लेकर यह स्पष्ट कर दिया था कि नेहरू के नेतृत्व वाली सरकार ब्रिटेन से अंतरंग संबंध बनाकर रखना चाहती है। परंतु नेहरू ने ‘गुटनिरपेक्षता’ की नीति अपनाकर अंतरराष्ट्रीय कूटनीति में एक तीसरी राह तलाश कर ली।

आज भी भारत के अंतरराष्ट्रीय संबंधों के संदर्भ में पंचशील की बात की जाती है। निश्चित ही यह नेहरू के इतिहासबोध का ही परिणाम था और इसका सबसे उजागर प्रमाण यह है कि नेहरू के बाद भी कांग्रेस ही नहीं, दूसरी सरकारें भी सारतः उसी विदेश नीति का पालन करती रही हैं।

नेहरू के इतिहासबोध का दूसरा व्यावहारिक प्रमाण उनकी नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति में दिखाई पड़ता है। विदेश नीति की ही तरह 1947 में भारत के सामने पूंजीवादी या समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में से एक को चुनने की मजबूरी थी। भारत का स्वतंत्रता आंदोलन विचारधारात्मक रूप से पूंजीवादी जनतंत्र की ओर ही झुका हुआ था। स्वतंत्रता आंदोलन को भारत के पूंजीपतियों का समर्थन प्राप्त था, इसलिए स्वाभाविक था कि स्वतंत्र भारत की सरकार पश्चिमी देशों की मदद से पूंजीवादी रास्ते पर चल पड़ती। पर नेहरू के नेतृत्व में सरकार ने एक योजना आयोग का गठन किया और सोवियत यूनियन की तर्ज पर पंचवर्षीय योजनाएं बनानी शुरू की और अर्थव्यवस्था में ‘प्राइवेट सेक्टर’ के समानांतर एक ‘पब्लिक सेक्टर’ शुरू किया। सारे बड़े उद्योग पब्लिक सेक्टर यानी सरकारी नियंत्रण में आ गए। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में कांग्रेस सरकार ने भी पब्लिक सेक्टर का भूमंडलीकरण के प्रभाव में विघटन शुरू कर दिया। इसकी समीक्षा करने के बजाय अगर हम नेहरू की अर्थनीति

की समीक्षा करें, तो हम पाएंगे कि 1947 में, भारत में पूंजीपतियों के पास इतनी पूंजी नहीं थी कि वे भारत के भारी औद्योगीकरण के लिए संसाधन जुटा सके। हमें याद रखना चाहिए कि आजादी के पहले भारत के बड़े पूंजीपतियों ने भी टाटा-बिड़ला, प्लान के अंतर्गत राज्य द्वारा पूंजी जुटाने की सिफारिश की थी। भारत के किसी पूंजीपति की यह हैसियत नहीं थी कि वह दुनिया भर से पूंजी जुटा सके। यह काम भारतीय राज्य कर सकता था और उसने किया। धीरे-धीरे भारत की अर्थव्यवस्था मजबूत होती गई और आज के आर्थिक बड़बोलेपन की नींव नेहरू की अर्थनीति ने ही रखी थी।

इतिहासबोध द्वारा संचालित व्यावहारिक नीतियों का मूल्यांकन करने पर नेहरू की नीतियों की बहुत सारी कमियां चिह्नित की जा सकती हैं। लेखक नेहरू अधिकांशतः निर्विवाद हैं। पर राजनेता नेहरू अधिकांशतः विवादास्पद हैं। नेहरू सत्रह वर्षों तक भारत के प्रधानमंत्री रहे। सरदार वल्लभभाई पटेल की मृत्यु के बाद अधिकांशतः उनका शासन उनके मनमाफिक ही चला, इसलिए उस दौरान जो भी सही या गलत हुआ सारतः उसके लिए काफी हद तक उन्हें जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। उन्होंने गलतियां भी की और उनसे चूकें भी हुईं—ऐसी चूकें जिनके लिए मुहावरा है ‘आदमी से गलती होती ही है’ पर उन्होंने ऐसी गलतियां भी की, जिनके लिए इतिहास उनको कभी माफ नहीं करेगा। पर अगर हम पिछले सात दशकों के भारत और विश्व पर नजर डालें, तो हम देखेंगे कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आजाद हुए अधिकांश देश आज भी लड़खड़ा रहे हैं। लड़खड़ा तो भारत भी रहा है। भारत की भी अधिकांश मूलभूत समस्याएं—जैसे गरीबी, बेरोजगारी, पिछड़ापन, अशिक्षा, असमानता आदि मुंह बाए खड़ी हैं। मानवीय सूचकांक के संदर्भ में भारत बहुत पिछड़ा देश है। पर यह भी सच है कि भारत में जनतंत्र की जड़ें मजबूत होती जा रही हैं—बीच-बीच के तमाम सारे खतरों के बावजूद। भारत में भ्रष्टाचार और अनैतिकता बढ़ते जा रहे हैं, तो साथ ही उसके विरुद्ध चेतना भी। भारत का मध्यवर्ग कितना ही आत्मकेन्द्रित और लिजलिजा हो, उसके एक अंश में वैश्विक चेतना बढ़ रही है। भारत में विकल्पहीनता बढ़ाने के जितने ही प्रयास हो रहे हों, विकल्पों की तलाश का साहस भी बढ़ रहा है।

ऐसे संक्रमण काल में जवाहरलाल नेहरू की उपलब्धियों की अर्थवत्ता समझना जरूरी हो जाता है। भारत में लोकतंत्र और यहां की संस्कृति की विविधता को मजबूत और समृद्ध करने के नेहरू के प्रयास तब और प्रासंगिक हो जाते हैं, जब आज की स्थितियां उन्हें कमजोर करती दिखाई पड़ रही हैं।

साभार : अहा! ज़िंदगी

जय भीम : आशा और निराशा दोनों के यथार्थ दिखाता न्याय का संघर्ष

अपूर्वानंद

टीजे ज्ञानवेल की जय भीम उम्मीद और नाउम्मीदी की फिल्म है। उम्मीद इसलिए कि यह दिखाती है कि इंसाफ़ के लिए लड़ा जा सकता है, जीता भी जा सकता है। नाउम्मीदी इसकी कि शायद हमारे इस वक्त में यह सब कुछ एक सपना बनकर रह गया है।

‘जय भीम’ देखते हुए रोया। यह कहने में कोई शर्म नहीं है। रोया उम्मीद से और नाउम्मीदी से रोया। उम्मीद इसकी कि इंसाफ़ के लिए लड़ा जा सकता है। जीता भी जा सकता है। नाउम्मीदी इसकी कि शायद हमारे इस वक्त में यह सब कुछ एक सपना बनकर रह गया है। उम्मीद इसकी कि अन्याय अगर व्यवस्था से पैदा होता है तो उसी व्यवस्था में उसकी मर्यादा के लिए उसका महाजन उठ खड़ा हो सकता है। सादगी से, जैसे वह तो सिर्फ़ उसका रोज़मर्रा का काम है।

जैसा इस फिल्म में वे न्यायाधीश करते हैं जो वकील चंद्रू की अर्जियों को ऋबूल करते हैं, जो यूं तो असाधारण लगता है, लेकिन जैसा फिल्म में दिखाता है उन दोनों न्यायाधीशों के लिए वही करना सबसे स्वाभाविक था। क्योंकि भले ही वह प्रथा विरुद्ध हो लेकिन उस क्षण में न्याय के लिए उचित वही था। नाउम्मीदी इसलिए कि अब यह सब कुछ न तो स्वाभाविक है न उसे स्वाभाविक बनाया जाता है।

फिल्म जितनी एक इरुला आदिवासी औरत सेंगेनी की कहानी है, उतनी ही उसका साथ देने वाले वकील चंद्रू की भी। अपने पति राजकन्यु की पुलिस हिरासत में यातना देकर हत्या के बाद इंसाफ़ के लिए लड़ती सेंगेनी और अदालत में उस लड़ाई को आगे बढ़ाता वकील चंद्रू दोनों ही हर कदम पर जैसे एक दूसरे के क्रद को और बढ़ा करते जाते हैं।

जो निरक्षर लोगों को देश के लिए बोझ मानते हैं यह फिल्म उन्हें सबक सिखलाती है। न्याय, अन्याय का विवेक अक्षरों का मोहताज नहीं। जैसे कबीर ने कहा था कि प्रेम की शिक्षा भी पोथी का इंतज़ार नहीं करती।

इस देश में इंसाफ़ के खयाल को अगर किसी ने ज़िंदा

रखा है तो प्रायः निरक्षर या अशिक्षित माने जाने वालों ने ही, जो उसकी लड़ाई को आखिरी दम तक लड़ते हैं। यह जानते हुए कि शायद उसमें उनकी हार ही ज्यादा निश्चित है।

इस फिल्म में एक बहुत ही मार्मिक दृश्य है जब चंद्रू दस्तखत के लिए सेंगेनी के सामने वकालतनामा बढ़ाता है, वह लाचारी से कहती है कि वह लिखना नहीं जानती। एक क्षण की खामोशी के बाद वह उसके आगे अंगूठा लगाने को इंकपैड बढ़ा देता है। इसी प्रेम में वह युवा अध्यापिका मित्रा भी है जो इरुला आदिवासियों, उनके बच्चों को पढ़ना सिखा रही है। इस दृश्य में अगर कुछ है तो वह सेंगेनी के सम्मान का स्वीकार है। महत्वपूर्ण उसका अक्षर ज्ञान नहीं है जितना न्याय के प्रति उसका आग्रह है और उसके लिए एक लंबे संघर्ष में उतरने की उसकी प्रस्तुति है।

यह दृश्य देखकर और फिल्म देखते हुए मुझे जाने क्यों ‘पंच परमेश्वर’ की खाला की याद आई। और गुजरात की 2002 की बिलकीस बानो की। वह भी हमारे मुताबिक शिक्षित न थी। लेकिन अपने साथ हुए बलात्कार और अपने लोगों के साथ हुए जुल्म के खिलाफ़ इंसाफ़ की लड़ाई में खतरे झेलते, पूरा देश भागते हुए टिकी रही, मैदान न छोड़ा।

क्या उसे डर न लगा होगा? क्या उसे प्रलोभन न दिया गया होगा? तो बोझ कौन है इस देश के लिए? वे जो अक्षरवंचित होकर भी न्याय के बोध को दृढ़ करते हैं या वे जो अपनी शिक्षा और उससे हासिल सत्ता को न्याय की हत्या करने का हथियार बनाते हैं?

जो हो, यह फिल्म एक दूसरी वजह से भी खास है। वह उसे ‘आक्रोश’ से बहुत आगे ले जाती है, जिसे रघुवीर सहाय ने एक फासिस्ट फिल्म कहा था क्योंकि वह एक आदिवासी को कर्ता

की सत्ता से वंचित करती है। जब वह उसे हासिल करता है तो उसकी अभिव्यक्ति हिंसा में होती है।

‘जय भीम’ उससे बिल्कुल अलग एक आदिवासी औरत के संपूर्ण साधनविहीनता की स्थिति में भी अपनी सत्ता की गरिमा को और दृढ़ करते जाने की कथा कहती है।

‘जय भीम’ फ़िल्म कई चीजों के बारे में है। वह भारतीय संविधान में और क़ानून में ‘बंदी प्रत्यक्षीकरण’ (Habeas Corpus) याचिका की पवित्रता के बारे में है। यानी मुझे ग़ायब नहीं किया जा सकता। मेरे जीने का अधिकार सर्वोपरि है और वह मेरे शरीर के जीवित और मुक्त रहने से जुड़ा हुआ है।

तो पुलिस यह कहकर पल्ला नहीं झाड़ सकती कि मालूम नहीं वह शरूख़ कहां है, उसे मुझे सशरीर हाज़िर करना होगा वह चाहे नजीब का मसला हो, जो सालों से ग़ायब है और अदालत उसे लेकर लापरवाह है या कश्मीर के नेताओं और नागरिकों को ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से बंद करने के बाद उनकी बंदी प्रत्यक्षीकरण की अर्ज़ी की तरफ़ से सर्वोच्च न्यायालय के आंखें फेर लेने का।

यह फ़िल्म बहुत ही प्रभावशाली तरीक़े से बतलाती है कि क्यों अदालत का फ़र्ज़ है, और पहला फ़र्ज़ है कि वह इस क़ानून का कारगर तरीक़े से पालन करवाए। इसलिए सेंगेनी के पति राजक़न्नु की खोज में मद्रास उच्च न्यायालय असाधारण निर्णय लेता है। वह न सिर्फ़ इस अर्ज़ी को क़बूल करता है बल्कि हर कदम पर सरकारी पक्ष के विरुद्ध सेंगेनी की तरफ़ से उसके वकील की बात को ही मानता है।

आज यह असंभव लगता है। कश्मीर के नेताओं के प्रत्यक्षीकरण की याचिका को उसने हवा में उड़ा दिया क्योंकि सरकारी अधिवक्ता ने कह दिया कि वे आज़ाद हैं। फिर उसने उनके वकीलों को सुनना भी ज़रूरी न समझा। जबकि इस फ़िल्म में उच्च न्यायालय हर कदम पर सेंगेनी के अपने पति को हाज़िर किए जाने की मांग का सम्मान करता है।

यह फ़िल्म पुलिस हिरासत में यातना और हत्या के प्रश्न को भी उसकी पूरी गंभीरता के साथ पेश करती है। हिरासत में राजक़न्नु और उसके परिजन को यातना दिए जाने के दृश्य असहनीय हैं और लंबे हैं लेकिन यही शायद निर्देशक का इरादा है। दर्शक उस यातना से गुजरे, उसकी व्यर्थता को भी समझे।

फ़िल्म की कोई सहानुभूति पुलिस के साथ नहीं है। लेकिन वह पुलिस के अमानवीकरण की प्रक्रिया को बारीकी और ब्योरे में दिखाती है। यह भी कि ऐसा नहीं कि उसके पास न्यायपूर्ण होने

का विकल्प नहीं है। यह कहकर पुलिस अधिकारी अपनी ज़िम्मेदारी से बच नहीं सकते कि राजनीतिक सत्ता के कारण वे मजबूर हैं।

अदालत के द्वारा राजक़न्नु के ग़ायब होने के मामले की पड़ताल के लिए नियुक्त इंस्पेक्टर जनरल पेरुमलस्वामी का अपने विभाग की प्रतिष्ठा की रक्षा की दुहाई को ठुकरा देना और अविचलित भाव से सच की तलाश करना, यह भी नौकरी करना ही है और पुलिस की इज्जत को बनाए रखना है।

निचले स्तर के पुलिसकर्मी राजक़न्नु को यातना देते हैं और मार डालते हैं। फ़िल्म कोई मनोवैज्ञानिक बहाना नहीं खोजती कि इस यातना को स्वाभाविक ठहरा दिया जा सके। फ़िल्मकार ने ध्यान रखा है कि राजक़न्नु और सेंगेनी या उनके समुदाय के लोगों का मात्र अत्याचार झेल रहे मूक आदिवासी में अमूर्तन न कर दिया जाए। इसका ख़तरा था। वे अपनी पूरी मानवीयता में चित्रित किए गए हैं।

इस फ़िल्म का एक प्रभावशाली दृश्य वह है, जिसमें सेंगेनी के मुकदमे को लड़ना कबूल करते हुए वकील चंद्रू उससे कहता है कि जो हुआ है और वह जो जानती है, उसे जितना है उतना ही बतलाए, उससे न कम, न ज़्यादा।

सच के प्रति इसे आग्रह के सहारे ही न्याय का संघर्ष किया जा सकता है। सच से न कम न ज़्यादा! इसी में इंसफ की लड़ाई की ताकत भी है। एक जगह तनाव पैदा होता है जब चंद्रू को अदालत में प्रतिपक्ष के वकील से एक तथ्य का पता चलता है। वह सेंगेनी और मित्रा दोनों पर खफा होता है कि उससे सच क्यों छिपाया गया और मुकदमा छोड़ने की धमकी देता है।

निर्देशक टीजे ज्ञानवेल ने फ़िल्म में नाटकीयता बनाए रखी है। सारे पात्र, चाहे सेंगेनी के रूप में लिजोमोल जोस हों या वकील चंद्रू के रूप में सूर्या शिवकुमार या पेरुमलस्वामी के रूप में प्रकाश राज या अध्यापिका के रूप में राजिशा विजयन, सबने बहुत संवेदनशील अभिनय किया है।

फ़िल्म कुछ जगह अत्यधिक मुखर जान पड़ती है कुछ जगह अस्वाभाविक। लेकिन वह इसलिए कि सहानुभूति, एक दूसरे से एकजुटता और न्याय का संघर्ष और उसमें जीत अब इतने अस्वाभाविक मालूम पड़ने लगे हैं।

जाति का प्रश्न, प्राकृतिक और सामाजिक संसाधनों पर अधिकार का सवाल, नागरिकता, उसके प्रमाण, राज्य के जीवन पर क़ब्जे और मात्र मनुष्य की तरह जीने के संघर्ष के सवाल जय भीम में हैं। जैसा शुरू में लिखा, फ़िल्म आशा और निराशा दोनों के यथार्थ के बारे में है। एक यथार्थ है और एक को यथार्थ होना है।

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए